

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्ने तेरहवें अध्यायके अन्तमें कहा कि ज्ञानचक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको देखनेवाला परमात्माको प्राप्त हो जाता है। अब प्रश्न होता है कि वह ज्ञान क्या है और उसकी क्या महिमा है तथा उस ज्ञानकी प्राप्तिका सरल उपाय क्या है? इसका वर्णन करनेके लिये भगवान् चौदहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

बन्धन दोसे होता है—प्रकृतिसे और प्रकृतिके कार्य गुणोंसे। प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्ने तेरहवें अध्यायका विषय बता दिया। अब प्रकृतिके कार्य गुणोंके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान् चौदहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

ज्ञानानाम्	= सम्पूर्ण ज्ञानोंमें	प्रवक्ष्यामि	= कहूँगा,	इतः	= इस संसारसे
उत्तमम्	= उत्तम (और)	यत्	= जिसको		(मुक्त होकर)
परम्	= श्रेष्ठ	ज्ञात्वा	= जानकर	पराम्	= परम
ज्ञानम्	= ज्ञानको (मैं)	सर्वे	= सब-के-सब	सिद्धिम्	= सिद्धिको
भूयः	= फिर	मुनयः	= मुनिलोग	गताः	= प्राप्त हो गये हैं।

व्याख्या—‘परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञान-मुत्तमम्’—तेरहवें अध्यायके अठारहवें, तेईसवें और चौतीसवें श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका, प्रकृति-पुरुषका जो ज्ञान (विवेक) बताया था, उसी ज्ञानको फिर बतानेके लिये भगवान् ‘भूयः प्रवक्ष्यामि’ पदोंसे प्रतिज्ञा करते हैं।

लौकिक और पारलौकिक जितने भी ज्ञान हैं अर्थात् जितनी भी विद्याओं, कलाओं, भाषाओं, लिपियों आदिका ज्ञान है, उन सबसे प्रकृति-पुरुषका भेद बतानेवाला, प्रकृतिसे अतीत करनेवाला, परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला यह ज्ञान श्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्ट है। इसके समान दूसरा कोई ज्ञान है ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। कारण कि दूसरे सभी ज्ञान संसारमें फँसानेवाले हैं, बन्धनमें डालनेवाले हैं।

यद्यपि ‘उत्तम’ और ‘पर’—इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ होता है, तथापि जहाँ एक अर्थके दो शब्द एक

साथ आ जाते हैं, वहाँ उनके दो अर्थ होते हैं। अतः यहाँ ‘उत्तम’ शब्दका अर्थ है कि यह ज्ञान प्रकृति और उसके कार्य संसार-शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाला होनेसे श्रेष्ठ है; और ‘पर’ शब्दका अर्थ है कि यह ज्ञान परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे सर्वोत्कृष्ट है।

‘यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः’—जिस ज्ञानको जानकर अर्थात् जिसका अनुभव करके बड़े-बड़े मुनिलोग इस संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, उसको मैं कहूँगा। उस ज्ञानको प्राप्त करनेपर कोई मुक्त हो और कोई मुक्त न हो—ऐसा होता ही नहीं, प्रत्युत इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब मुनिलोग मुक्त हो जाते हैं, संसारके बन्धनसे, संसारकी परवशतासे छूट जाते हैं और परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

तत्त्वका मनन करनेवाले जिस मनुष्यका शरीरके साथ अपनापन नहीं रहा, वह ‘मुनि’ कहलाता है।

‘परां सिद्धिम्’ कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक कार्योंकी जितनी सिद्धियाँ हैं अथवा योग-साधनसे होनेवाली अणिमा, महिमा, गरिमा आदि जितनी सिद्धियाँ हैं, वे सभी वास्तवमें असिद्धियाँ ही हैं। कारण कि वे सभी जन्म-

मरण देनेवाली, बन्धनमें डालनेवाली, परमात्मप्राप्तिमें बाधा डालनेवाली हैं। परन्तु परमात्मप्राप्तिरूप जो सिद्धि है, वह सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि उसको प्राप्त होनेपर मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—(यह चौदहवाँ अध्याय तेरहवें अध्यायका ही परिशिष्ट है।) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक ज्ञानोंसे उत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका रामबाण उपाय है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

‘ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्’ पदोंका तात्पर्य है—सात्त्विक, राजस और तामस ज्ञानसे तथा लौकिक-पारलौकिक ज्ञानसे भी उत्तम, आखिरी ज्ञान। इस ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई ज्ञान परमसिद्धि प्राप्त नहीं करा सकता। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा अनुभव हो जाना ही परमसिद्धिकी प्राप्ति है। तात्पर्य है कि परमसिद्धि प्राप्त होनेपर क्रिया तथा पदार्थका अत्यन्त अभाव हो जाता है और एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कोई जड़ वस्तु रहती ही नहीं, जो कि वास्तवमें है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदम्	= इस	साधर्म्यम्	= सधर्मताको	न, उपजायन्ते	= पैदा नहीं होते
ज्ञानम्	= ज्ञानका	आगताः	= प्राप्त हो गये हैं,	च	= और
उपाश्रित्य	= आश्रय लेकर	सर्गे	= (वे) महासर्गमें	प्रलये	= महाप्रलयमें भी
मम	= (जो मनुष्य) मेरी	अपि	= भी	न, व्यथन्ति	= व्यथित नहीं होते।

व्याख्या—‘इदं ज्ञानमुपाश्रित्य’—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने उत्तम और पर—इन दो विशेषणोंसे जिस ज्ञानकी महिमा कही थी, उस ज्ञानका अनुभव करना ही उसका आश्रय लेना है। उस ज्ञानका अनुभव होनेसे मनुष्यके सम्पूर्ण संशय मिट जाते हैं और वह ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

‘मम साधर्म्यमागताः’—उस ज्ञानका आश्रय लेकर मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जैसे मेरेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है, ऐसे ही उनमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता। जैसे मैं सदा ही निर्लिप्त-निर्विकार रहता हूँ, ऐसे ही उनको भी अपनी निर्लिप्तता-निर्विकारताका अनुभव हो जाता है।

ज्ञानी महापुरुष भगवान्के समान निर्लिप्त-निर्विकार तो हो जाते हैं, पर वे भगवान्के समान संसारकी उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य नहीं कर सकते। हाँ, योगाभ्यासके बलसे किसी योगीमें कुछ सामर्थ्य आ जाती है, पर वह सामर्थ्य भी भगवान्की सामर्थ्यके समान नहीं होती। कारण कि वह ‘युंजान योगी’ है अर्थात् उसने अभ्यास करके कुछ सामर्थ्य प्राप्त की है। परन्तु भगवान् ‘युक्त योगी’ हैं अर्थात् भगवान्में सामर्थ्य सदासे स्वतःसिद्ध है। भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं—‘कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः।’

योगीकी सामर्थ्य तो सीमित होती है, पर भगवान्की सामर्थ्य असीम होती है।

‘सर्गेऽपि नोपजायन्ते’—यहाँ ‘अपि’ पदसे यह मालूम होता है कि वे ज्ञानी महापुरुष महासर्गके आरम्भमें भी उत्पन्न नहीं होते। महासर्गके आदिमें चौदह लोकोंकी तथा उन लोकोंके अधिकारियोंकी उत्पत्ति होती है, पर वे महापुरुष उत्पन्न नहीं होते अर्थात् उनको फिर कर्मपरवश होकर शरीर धारण नहीं करना पड़ता।

‘प्रलये न व्यथन्ति च’—महाप्रलयमें संवर्तक अग्निसे चर-अचर सभी प्राणी भस्म हो जाते हैं। समुद्रके बड़ जानेसे पृथ्वी डूब जाती है। चौदह लोकोंमें हलचल, हाहाकार मच जाता है। सभी प्राणी दुःखी होते हैं, नष्ट होते हैं। परन्तु महाप्रलयमें उन ज्ञानी महापुरुषोंको कोई दुःख नहीं होता, उनमें कोई हलचल नहीं होती, विकार नहीं होता। वे महापुरुष जिस तत्त्वको प्राप्त हो गये हैं, उस तत्त्वमें हलचल, विकार है ही नहीं, तो फिर वे महापुरुष व्यथित कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।

महासर्गमें भी उत्पन्न न होने और महाप्रलयमें भी व्यथित न होनेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुषका

प्रकृति और प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे जो जन्म-मरण होता है, दुःख होता है, हलचल होती है, प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित महापुरुषमें वह जन्म-मरण, दुःख आदि नहीं होते।

परिशिष्ट भाव—कारणशरीरके सम्बन्धसे 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (स्वयंमें) 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प स्थिति तो सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। तात्पर्य है कि निर्विकल्प स्थितिमें परिवर्तन होता है, पर निर्विकल्प बोधमें कभी परिवर्तन नहीं होता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इस बातको यहाँ 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' पदोंसे कहा गया है।

महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। प्रकृतिसे सम्बन्ध न रहनेको 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहा गया है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके कार्य शरीरको पकड़नेसे मनुष्य परतन्त्र हो जाता है*, जन्म-मरणमें पड़ जाता है; परन्तु प्रकृतिके कार्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर वह स्वतन्त्र हो जाता है, निरपेक्ष जीवन हो जाता है, जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है।

'मम साधर्म्यमागताः' पदोंका तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही उनको प्राप्त होनेवाले ज्ञानी महापुरुष भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाते हैं।

सम्बन्ध—जो भगवान्की सधर्मताको प्राप्त हो जाते हैं, वे तो महासर्गमें भी पैदा नहीं होते; परन्तु जो प्राणी महासर्गमें पैदा होते हैं, उनके उत्पन्न होनेकी क्या प्रक्रिया है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	योनिः	= उत्पत्ति-स्थान है (और)	दधामि	= स्थापन करता हूँ।
मम	= मेरी	अहम्	= मैं	ततः	= उससे
महत्, ब्रह्म	= मूल प्रकृति तो	तस्मिन्	= उसमें	सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी
		गर्भम्	= जीवरूप गर्भका	सम्भवः	= उत्पत्ति
				भवति	= होती है।

व्याख्या—'मम योनिर्महद्ब्रह्म'—यहाँ मूल प्रकृतिको 'महद्ब्रह्म' नामसे कहा गया है, इसके कई कारण हो सकते हैं; जैसे—

(१) परमात्मा छोटे-पन और बड़े-पनसे रहित हैं; अतः वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी हैं और महान्-से-महान् भी हैं—'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।२०)। परन्तु संसारकी दृष्टिसे सबसे बड़ी चीज मूल प्रकृति ही है अर्थात् संसारमें सबसे बड़ा व्यापक तत्त्व मूल प्रकृति ही है। परमात्माके सिवाय संसारमें इससे बढ़कर कोई व्यापक तत्त्व नहीं है। इसलिये इस मूल प्रकृतिको यहाँ 'महद्ब्रह्म' कहा गया है।

(२) 'महत्' (महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि बुद्धि) और 'ब्रह्म'-(परमात्मा-) के बीचमें होनेसे मूल प्रकृतिको 'महद्ब्रह्म' कहा गया है।

(३) पीछेके (दूसरे) श्लोकमें 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' पदोंमें आये 'सर्ग' और 'प्रलय' शब्दोंका अर्थ क्रमशः ब्रह्माका दिन और ब्रह्माकी रात माना जा सकता है। अतः उनका अर्थ महासर्ग (ब्रह्माका प्रकट होना) और महाप्रलय (ब्रह्माका लीन होना) सिद्ध करनेके लिये यहाँ 'महद्ब्रह्म' शब्द दिया है। तात्पर्य है कि जीवन्मुक्त महापुरुषोंका इस मूल प्रकृतिसे ही सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये वे महासर्गमें भी पैदा

* 'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५)

'अवशं प्रकृतेर्वशात्' (१।८)

'रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे' (८।१९)

नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते।

सबका उत्पत्ति-स्थान होनेसे इस मूल प्रकृतिको 'योनि' कहा गया है। इसी मूल प्रकृतिसे अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं और इसीमें लीन होते हैं। इस मूल प्रकृतिसे ही सांसारिक अनन्त शक्तियाँ पैदा होती हैं।

इस मूल प्रकृतिके लिये 'मम' पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि यह प्रकृति मेरी है। अतः इसपर आधिपत्य भी मेरा ही है। मेरी इच्छाके बिना यह प्रकृति अपनी तरफसे कुछ भी नहीं कर सकती। यह जो कुछ भी करती है, वह सब मेरी अध्यक्षतामें ही करती है (गीता—नवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

मैं मूल प्रकृति-(महद्ब्रह्म-) से भी श्रेष्ठ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ—इसको बतानेके लिये भगवान्ने 'मम महद्ब्रह्म' पदोंका प्रयोग किया है।

महद् ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माका अंश होते हुए भी जीव परमात्मासे विमुख होकर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है। इतना ही नहीं, वह प्रकृतिके कार्य तीनों गुणोंसे सम्बन्ध जोड़ लेता है और उससे भी नीचे गिरकर गुणोंके भी कार्य शरीर आदिसे सम्बन्ध जोड़ लेता है और बँध जाता है। अतः भगवान् 'मम महद्ब्रह्म' पदोंसे कहते हैं कि जीवका सम्बन्ध वास्तवमें मूल प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ मुझ परमात्माके साथ है—'मम एव अंशः' (गीता १५।७), इसलिये प्रकृतिके साथ सम्बन्ध मानकर उसको

अपना पतन नहीं करना चाहिये।

'तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'—यहाँ 'गर्भम्' पद कर्म-संस्कारोंसहित जीव-समुदायका वाचक है। भगवान् कोई नया गर्भ स्थापन नहीं करते। अनादिकालसे जो जीव जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़े हुए हैं, वे महाप्रलयके समय अपने-अपने कर्म-संस्कारोंसहित प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। प्रकृतिमें लीन हुए जीवोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब महासर्गके आदिमें भगवान् उन जीवोंका प्रकृतिके साथ पुनः विशेष सम्बन्ध (जो कि कारणशरीररूपसे पहलेसे ही था) स्थापित करा देते हैं—यही भगवान्के द्वारा जीव-समुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'— भगवान्के द्वारा प्रकृतिमें गर्भ-स्थापन करनेके बाद सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है अर्थात् वे प्राणी सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करके पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं। महासर्गके आदिमें प्राणियोंका यह उत्पन्न होना ही भगवान्का विसर्ग (त्याग) है, आदिकर्म है (गीता—आठवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

[जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक प्रकृतिके अंश कारण-शरीरसे उसका सम्बन्ध बना रहता है और वह महाप्रलयमें कारणशरीरसहित ही प्रकृतिमें लीन होता है।]

परिशिष्ट भाव—भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि जन्म-मरणमें पड़ा हुआ होनेपर भी जीव मेरा ही अंश है। उसकी सधर्मता, एकता मेरे साथ है, शरीरके साथ नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें समष्टि संसारकी उत्पत्तिकी बात बतायी, अब आगेके श्लोकमें व्यष्टि शरीरोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन !	सम्भवन्ति	= पैदा होते हैं,	अहम्	= मैं
सर्वयोनिषु	= सम्पूर्ण योनियोंमें	तासाम्	= उन सबकी	बीजप्रदः	= बीज-स्थापन
याः	= (प्राणियोंके) जितने	महत्, ब्रह्म	= मूल प्रकृति तो		करनेवाला
मूर्तयः	= शरीर	योनिः	= माता है (और)	पिता	= पिता हूँ।

व्याख्या—'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः'— जरायुज (जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, पशु आदि), अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी, सर्प आदि),

स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जूँ, लीख आदि) और उद्भिज्ज (पृथ्वीको फोड़कर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष, लता आदि)—सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके ये चार खानि अर्थात्

स्थान हैं। इन चारोंमेंसे एक-एक स्थानसे लाखों योनियाँ पैदा होती हैं। उन लाखों योनियोंमेंसे एक-एक योनिमें भी जो प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी आकृति अलग-अलग होती है। एक योनिमें, एक जातिमें पैदा होनेवाले प्राणियोंकी आकृतिमें भी स्थूल या सूक्ष्म भेद रहता है अर्थात् एक समान आकृति किसीकी भी नहीं मिलती। जैसे, एक मनुष्ययोनिमें अरबों वर्षोंसे अरबों शरीर पैदा होते चले आये हैं, पर आजतक किसी भी मनुष्यकी आकृति परस्पर नहीं मिलती। इस विषयमें किसी कविने कहा है—

पाग भाग वाणी प्रकृति, आकृति वचन विवेक ।

अक्षर मिलत न एक-से, देखे देश अनेक ॥

अर्थात् पगड़ी, भाग्य, वाणी (कण्ठ), स्वभाव, आकृति, शब्द, विचार-शक्ति और लिखनेके अक्षर—ये सभी दो मनुष्योंके भी एक समान नहीं मिलते। इस तरह चौरासी लाख योनियोंमें जितने शरीर अनादिकालसे पैदा होते चले आ रहे हैं, उन सबकी आकृति अलग-अलग है। चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत आदिको भी यहाँ 'सर्वयोनिषु' पदके अन्तर्गत ले लेना चाहिये।

'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता'—उपर्युक्त चार खानि अर्थात् चौरासी लाख योनियाँ तो शरीरोंके पैदा होनेके स्थान हैं और उन सब योनियोंका उत्पत्ति-स्थान (माताके स्थानमें) 'महद्ब्रह्म' अर्थात् मूल प्रकृति है। उस मूल प्रकृतिमें जीवरूप बीजका स्थापन करनेवाला पिता मैं हूँ।

परिशिष्ट भाव—चौरासी लाख योनियाँ, देवता, पितर, गन्धर्व, भूत-प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, बालग्रह, स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज आदि सभी 'सर्वयोनिषु' पदके अन्तर्गत लेने चाहिये। इसी बातको सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय' पदोंसे और तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें 'यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्' पदोंसे कहा गया है।

यहाँ 'मूर्ति' शब्दका अर्थ है—शरीर। इसके अन्तर्गत मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त दोनों शरीर लेने चाहिये। पृथ्वी, जल और अग्नि मूर्त हैं। वायु और आकाश अमूर्त हैं। वायुप्रधान शरीर होनेसे भूत-प्रेत-पिशाच भी अमूर्त हैं।

भगवान्ने पहले-दूसरे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध न रहे तो जन्म-मरण नहीं होता और तीसरे-चौथे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे जन्म-मरण होता है। इसी (तीसरे-चौथे श्लोकोंकी) बातको आगे पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे कहा है।

सम्बन्ध—परमात्मा और उनकी शक्ति प्रकृतिके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जीव प्रकृतिजन्य गुणोंसे कैसे बँधते हैं— इस विषयका विवेचन आगेके श्लोकसे आरम्भ करते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले नाना प्रकारके शरीरोंमें भगवान् अपने चेतन-अंशरूप बीजको स्थापित करते हैं—इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणीमें स्थित परमात्माका अंश शरीरोंकी भिन्नतासे ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही परमात्मा विद्यमान है (गीता—तेरहवें अध्यायका दूसरा श्लोक)। इस बातको एक दृष्टान्तसे समझाया जाता है। यद्यपि दृष्टान्त सर्वांशमें नहीं घटता, तथापि वह बुद्धिको दार्ष्टान्तके नजदीक ले जानेमें सहायक होता है। कपड़ा और पृथ्वी—दोनोंमें एक ही तत्त्वकी प्रधानता है। कपड़ेको अगर जलमें डाला जाय तो वह जलके निचले भागमें जाकर बैठ जाता है। कपड़ा ताना (लम्बा धागा) और बाना-(आड़ा धागा-) से बुना जाता है। प्रत्येक ताने और बानेके बीचमें एक सूक्ष्म छिद्र रहता है। कपड़ेमें ऐसे अनेक छिद्र होते हैं। जलमें पड़े रहनेसे कपड़ेके सम्पूर्ण तन्तुओंमें और अलग-अलग छिद्रोंमें जल भर जाता है। कपड़ेको जलसे बाहर निकालनेपर भी उसके तन्तुओंमें और असंख्य छिद्रोंमें एक ही जल समानरीतिसे परिपूर्ण रहता है। इस दृष्टान्तमें कपड़ा 'प्रकृति' है, अलग-अलग असंख्य छिद्र 'शरीर' हैं और कपड़े तथा उसके छिद्रोंमें परिपूर्ण जल 'परमात्मतत्त्व' है। तात्पर्य है कि स्थूल दृष्टिसे तो प्रत्येक शरीरमें परमात्मतत्त्व अलग-अलग दिखायी देता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो सम्पूर्ण शरीरोंमें, सम्पूर्ण संसारमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है।

महाबाहो	= हे महाबाहो !	रजः	= रज (और)	अव्ययम्	= अविनाशी
प्रकृतिसम्भवाः	= प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले	तमः	= तम	देहिनम्	= देही (जीवात्मा)-को
सत्त्वम्	= सत्त्व,	इति	= —ये (तीनों)	देहे	= देहमें
		गुणाः	= गुण	निबध्नन्ति	= बाँध देते हैं।

व्याख्या—‘सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-सम्भवाः’—तीसरे और चौथे श्लोकमें जिस मूल प्रकृतिको ‘महद् ब्रह्म’ नामसे कहा है, उसी मूल प्रकृतिसे सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण पैदा होते हैं।

यहाँ ‘इति’ पदका तात्पर्य है कि इन तीनों गुणोंसे अनन्त सृष्टियाँ पैदा होती हैं तथा तीनों गुणोंके तारतम्यसे प्राणियोंके अनेक भेद हो जाते हैं, पर गुण न दो होते हैं, न चार होते हैं, प्रत्युत तीन ही होते हैं।

‘निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्’—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो ये तीनों गुण अपनी तरफसे किसीको भी नहीं बाँधते, प्रत्युत यह पुरुष ही इन गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर बाँध जाता है। तात्पर्य है कि गुणोंके कार्य पदार्थ, धन, परिवार, शरीर, स्वभाव, वृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, क्रियाएँ आदिको अपना मान लेनेसे यह जीव स्वयं अविनाशी होता हुआ भी बाँध जाता है, विनाशी पदार्थ, धन आदिके वशमें हो जाता है; सर्वथा स्वतन्त्र होता हुआ भी पराधीन हो जाता है। जैसे, मनुष्य जिस धनको अपना मानता है, उस धनके घटने-बढ़नेसे स्वयंपर असर पड़ता है; जिन व्यक्तियोंको अपना मानता है, उनके जन्मने-मरनेसे स्वयंपर असर पड़ता है; जिस शरीरको अपना मानता है, उसके घटने-बढ़नेसे स्वयंपर असर पड़ता है। यही गुणोंका अविनाशी देहीको बाँधना है।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह देही स्वयं अविनाशीरूपसे ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी गुणोंके, गुणोंकी वृत्तियोंके अधीन होकर स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस बन जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

(मानस ७। ११७। १)

जीवका यह अविनाशी स्वरूप वास्तवमें कभी भी गुणोंसे नहीं बाँधता; परन्तु जब वह विनाशी देहको ‘मैं’, ‘मेरा’ और ‘मेरे लिये’ मान लेता है, तब वह अपनी मान्यताके कारण गुणोंसे बाँध जाता है और उसको

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता प्रतीत होती है (गीता—बारहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। देहाभिमानके कारण गुणोंके द्वारा देहमें बाँध जानेसे वह तीनों गुणोंसे परे अपने अविनाशी स्वरूपको नहीं जान सकता। गुणोंसे देहमें बाँध जानेपर भी जीवका जो वास्तविक अविनाशी स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों ही रहता है, जिसका लक्ष्य भगवान्ने यहाँ ‘अव्ययम्’ पदसे कराया है।

यहाँ ‘देहिनम्’ पदका तात्पर्य है कि देहमें तादात्म्य, ममता और कामना होनेसे ही तीनों गुण इस पुरुषको देहमें बाँधते हैं। यदि देहमें तादात्म्य, ममता और कामना न हो, तो फिर यह परमात्मस्वरूप ही है।

विशेष बात

शरीरके साथ जीव दो तरहसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है—(१) **अभेदभावसे**—अपनेको शरीरमें बैठाना, जिससे ‘मैं शरीर हूँ’ ऐसा दीखने लगता है, और (२) **भेदभावसे**—शरीरको अपनेमें बैठाना, जिससे ‘शरीर मेरा है’ ऐसा दीखने लगता है। अभेदभावसे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव अपनेको शरीर मान लेता है, जिसको ‘अहंता’ कहते हैं; और भेदभावसे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव शरीरको अपना मान लेता है, जिसको ‘ममता’ कहते हैं। इस प्रकार शरीरसे अपना सम्बन्ध जोड़नेपर सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण अपनी वृत्तियोंके द्वारा शरीरमें अहंता-ममता दृढ़ करके जीवको बाँध देते हैं।

जैसे विवाह हो जानेपर पत्नीके पूरे परिवार-(ससुराल-) के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, पत्नीके वस्त्राभूषण आदिकी आवश्यकता अपनी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, ऐसे ही शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध हो जानेपर जीवका पूरे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंको वह अपनी आवश्यकता मानने लग जाता है। अनित्य शरीरसे सम्बन्ध (एकात्मता) माननेके कारण वह अनित्य शरीरको नित्य रखनेकी इच्छा करने लगता है; क्योंकि वह स्वयं नित्य है। शरीरके साथ सम्बन्ध माननेके कारण ही उसको मरनेका भय लगने लगता है; क्योंकि शरीर मरनेवाला है। यदि शरीरसे सम्बन्ध न रहे, तो

फिर न तो नित्य बने रहनेकी इच्छा होगी और न मरनेका भय ही होगा। अतः जबतक नित्य बने रहनेकी इच्छा और मरनेका भय है, तबतक वह गुणोंसे बँधा हुआ है।

जीव स्वयं अविनाशी है और शरीर विनाशी है। शरीरका प्रतिक्षण अपने-आप वियोग हो रहा है। जिसका अपने-

आप वियोग हो रहा है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें क्या कठिनता और क्या उद्योग? उद्योग है तो केवल इतना ही है कि स्वतः वियुक्त होनेवाली वस्तुको पकड़ना नहीं है। उसको न पकड़नेसे अपने अविनाशी, गुणातीत स्वरूपका अपने-आप अनुभव हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—प्रकृतिसे पैदा होनेके कारण सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति-विभागमें ही हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध ('मैं' और 'मेरा') मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी चेतनको नाशवान् जड़ शरीरमें बाँध देते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है'—ऐसा देहाभिमान पैदा कर देते हैं। तात्पर्य है कि सभी विकार प्रकृतिके सम्बन्धसे पैदा होते हैं। सत्तामात्र स्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है—'असंगो ह्ययं पुरुषः' (बृहदारण्यक० ४।३।१५), 'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' (गीता १३।२२)। विकारोंके कारण ही जन्म-मरण होता है। वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है (इसी अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, जीवमुक्त हो सकता ही नहीं!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा देहीके बाँधे जानेकी बात कही। उन तीनों गुणोंमेंसे सत्त्वगुणका स्वरूप और उसके बाँधनेका प्रकार आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

अनघ	= हे पापरहित अर्जुन !	होनेके कारण	आसक्तिसे
तत्र	= उन गुणोंमें	प्रकाशकम् = प्रकाशक (और)	च = और
सत्त्वम्	= सत्त्वगुण	अनामयम् = निर्विकार है।	ज्ञानसङ्गेन = ज्ञानकी आसक्तिसे
निर्मलत्वात्	= निर्मल (स्वच्छ)	सुखसङ्गेन = (वह) सुखकी	बध्नाति = (देहीको) बाँधता है।

व्याख्या—'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्'—पूर्वश्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी बात कही। इन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल (मलरहित) है। तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुणकी तरह सत्त्वगुणमें मलिनता नहीं है, प्रत्युत यह रजोगुण और तमोगुणकी अपेक्षा निर्मल, स्वच्छ है। निर्मल होनेके कारण यह परमात्मतत्त्वका ज्ञान करानेमें सहायक है।

'प्रकाशकम्'—सत्त्वगुण निर्मल, स्वच्छ होनेके कारण प्रकाश करनेवाला है। जैसे प्रकाशके अन्तर्गत वस्तुएँ साफ-साफ दीखती हैं, ऐसे ही सत्त्वगुणकी अधिकता होनेसे रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ साफ-साफ दीखती हैं। रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि दोष भी साफ-साफ दीखते हैं अर्थात् इन सब विकारोंका साफ-साफ ज्ञान होता है।

सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर इन्द्रियोंमें प्रकाश, चेतना और हलकापन विशेषतासे प्रतीत होता है, जिससे प्रत्येक पारमार्थिक अथवा लौकिक विषयको अच्छी तरह समझनेमें बुद्धि पूरी तरह कार्य करती है और कार्य करनेमें बड़ा उत्साह रहता है।

सत्त्वगुणके दो रूप हैं—(१) शुद्ध सत्त्व, जिसमें उद्देश्य परमात्माका होता है, और (२) मलिन सत्त्व, जिसमें उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रहका होता है*।

शुद्ध सत्त्वगुणमें परमात्माका उद्देश्य होनेसे परमात्माकी तरफ चलनेमें स्वाभाविक रुचि होती है। मलिन सत्त्वगुणमें पदार्थोंके संग्रह और सुखभोगका उद्देश्य होनेसे सांसारिक प्रवृत्तियोंमें रुचि होती है, जिससे मनुष्य बँध जाता है।

मलिन सत्त्वगुणमें भी बुद्धि सांसारिक विषयको अच्छी

* परमात्माका उद्देश्य न रहनेके कारण इसको 'मलिन सत्त्व' कहा गया है। मलिन सत्त्वमें रजोगुण साथ रहता है।

तरह समझनेमें समर्थ होती है। जैसे, सत्त्वगुणकी वृद्धिमें ही वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार करता है; किन्तु उसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति न होनेसे वह अहंकार, मान-बड़ाई, धन आदिसे संसारमें बँधा रहता है।

‘अनामयम्’—सत्त्वगुण रज और तमकी अपेक्षा विकाररहित है। वास्तवमें प्रकृतिका कार्य होनेसे यह सर्वथा निर्विकार नहीं है। सर्वथा निर्विकार तो अपना स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्व ही है, जो कि गुणातीत है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे भगवान्ने सत्त्वगुणको भी विकाररहित कह दिया है।

‘सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ’—जब अन्तःकरणमें सात्त्विक वृत्ति होती है, कोई विकार नहीं होता है, तब एक सुख मिलता है, शान्ति मिलती है। उस समय साधकके मनमें यह विचार आता है कि ऐसा सुख हरदम बना रहे, ऐसी शान्ति हरदम बनी रहे, ऐसी निर्विकारता हरदम बनी रहे। परन्तु जब ऐसा सुख, शान्ति, निर्विकारता नहीं रहती, तब साधकको अच्छा नहीं लगता। यह अच्छा लगना और अच्छा न लगना ही सत्त्वगुणके सुखमें आसक्ति है, जो बाँधनेवाली है।

जब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका, इनकी वृत्तियोंका, विकारोंका साफ-साफ ज्ञान होता है और साधकको ऐसी बहुत-सी आश्चर्यजनक बातोंकी जानकारी होती है, जो पहले कभी जानी हुई नहीं होती, तब साधकके मनमें आता है कि यह ज्ञान हरदम बना रहे। यह ज्ञानमें आसक्ति है, जो बाँधनेवाली है। ‘मैं दूसरोंकी अपेक्षा अधिक (विशेष) जानता हूँ’—यह अभिमान भी बाँधनेवाला होता है।

परिशिष्ट भाव— यहाँ भगवान्ने सत्त्वगुणको अनामय (निर्विकार) बताया है—यह सत्त्वगुणकी विलक्षणता है। कारण कि सत्त्वगुण गुणातीत होनेके बहुत नजदीक है। यद्यपि सत्त्वगुण निर्विकार है, पर संगके कारण वह विकारी हो जाता है—‘सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ’; क्योंकि संग रजोगुणका स्वरूप है—‘रजो रागात्मकं विद्धि’ (गीता १४।७)। सुख और ज्ञान बाधक नहीं हैं, प्रत्युत उनका संग बाधक है। संग है—उनको अपना मान लेना। वास्तवमें सत्त्वगुण अपना है ही नहीं, वह तो प्रकृतिका है।

मनुष्यमें रजोगुणकी मुख्यता रहती है—‘रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते’ (१४।१५), ‘मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः’ (१४।१८)। अतः जबतक संग रहता है, तबतक मुक्ति नहीं होती; क्योंकि स्वरूप असंग है।

भगवान्ने सत्त्वगुणको भी अनामय कहा है और परमपदको भी अनामय कहा है—‘पदं गच्छन्त्यानामयम्’ (२।५१)। इससे यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुण तो सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

तीनों गुण प्रकृतिजन्य होते हुए भी रजोगुण तृष्णा तथा आसक्तिसे पैदा होनेवाला और तमोगुण अज्ञानसे पैदा होनेवाला है (इसी अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक); परन्तु सत्त्वगुण केवल प्रकृतिजन्य है। तात्पर्य है कि सत्त्वगुण प्रकृतिजन्य तो है, पर किसी विकारसे जन्य नहीं है। इसलिये इसको ‘अनामय’ कहा गया है।

सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी स्वयंके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिजन्य होनेसे ‘पर’ के हैं अर्थात् पराधीन

इस तरह सत्त्वगुण सुख और ज्ञानके संग- (आसक्ति-) से साधकको बाँध देता है अर्थात् उसको गुणातीत नहीं होने देता। यह संग ही रजोगुण है, जो बाँधनेवाला है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यदि साधक सुख और ज्ञानका संग न करे तो सत्त्वगुण उसको बाँधता नहीं, प्रत्युत उसको गुणातीत कर देता है। तात्पर्य है कि यदि संग न हो तो साधक सत्त्वगुणसे भी ऊँचा उठ जाता है और अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव कर लेता है।

सत्त्वगुणसे सुख और ज्ञान होनेपर साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि यह सुख और ज्ञान मेरा लक्ष्य नहीं है। ये मेरे भोग्य नहीं हैं। ये तो लक्ष्यकी प्राप्तिमें कारण हैं। मेरेको तो उस लक्ष्यको प्राप्त करना है, जो इस सुख और ज्ञानको भी प्रकाशित करनेवाला है।

सुख, ज्ञान आदि सभी सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। ये कभी घटती हैं, कभी बढ़ती हैं; कभी आती हैं, कभी जाती हैं। परन्तु अपना स्वरूप निरन्तर एकरस रहता है। उसमें कभी घट-बढ़ नहीं होती। अतः साधकको सत्त्वगुणकी वृत्तियोंसे सदा तटस्थ, उदासीन रहना चाहिये। उनका उपभोग नहीं करना चाहिये। इससे वह सुख और ज्ञानकी आसक्तिमें फँसेगा नहीं।

अगर साधक सत्त्वगुणसे होनेवाले सुख और ज्ञानका संग न करे, तो उसको शीघ्र ही परमात्मप्राप्ति हो जाती है। परन्तु अगर वह इनके संगका त्याग न करे तो (परमात्मप्राप्तिका लक्ष्य होनेसे) समय पाकर उसकी इस सुख और ज्ञानसे स्वतः अरुचि हो जाती है और वह परमात्मप्राप्ति कर लेता है।

हैं। इनमें पराधीनताका सुख है, अपने स्वरूपका सुख नहीं है।

सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें अन्तर—सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ' यह संग है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञान रहता है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह (ज्ञानी) नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा रहता है और अपनेमें विशेषताका भान होता है; परन्तु तत्त्वज्ञानमें कोई द्रष्टा नहीं रहता और अपनेमें कोई कमी भी नहीं रहती तथा विशेषताका भान भी नहीं होता; क्योंकि व्यक्तित्व नहीं रहता। अपनेमें विशेषताका अनुभव होना ही संग है। विशेषताका अनुभव 'मैं ज्ञानी हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे होता है। तत्त्वज्ञान होनेपर निजानन्दका अनुभव होता है। तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें सात्त्विक ज्ञानका और अट्ठाईसवें श्लोकमें तत्त्वज्ञानका वर्णन हुआ है।

सम्बन्ध—रजोगुणका स्वरूप और उसके बाँधनेका प्रकार क्या है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन !	रजः	= रजोगुणको (तुम)	कर्मसङ्गेन	= कर्मोंकी आसक्तिसे
तृष्णासङ्गसमुद्भवम्	= तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले	रागात्मकम्	= रागस्वरूप	देहिनम्	= देही (जीवात्मा) - को
		विद्धि	= समझो।	निबध्नाति	= बाँधता है।
		तत्	= वह		

व्याख्या—'रजो रागात्मकं विद्धि'—यह रजोगुण रागस्वरूप है अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदिमें जो प्रियता पैदा होती है, वह प्रियता रजोगुणका स्वरूप है।

'रागात्मकम्' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे स्वर्णके आभूषण स्वर्णमय होते हैं, ऐसे ही रजोगुण रागमय है।

पातंजलयोगदर्शनमें 'क्रिया' को रजोगुणका स्वरूप कहा गया है। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् (क्रियामात्रको गौणरूपसे रजोगुण मानते हुए भी) मुख्यतः रागको ही रजोगुणका स्वरूप मानते हैं।^१ इसीलिये 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा' (२। ४८) पदोंमें आसक्तिका

त्याग करके कर्तव्यकर्मोंको करनेकी आज्ञा दी गयी है। निष्कामभावसे किये गये कर्म मुक्त करनेवाले होते हैं (तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'प्रवृत्ति' अर्थात् क्रिया करनेका भाव उत्पन्न होनेपर भी गुणातीत पुरुषका उसमें राग नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि गुणातीत पुरुषमें भी रजोगुणके प्रभावसे प्रवृत्ति तो होती है, पर वह रागपूर्वक नहीं होती। गुणातीत होनेमें सहायक होनेपर भी सत्त्वगुणको सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधनेवाला कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि आसक्ति ही बन्धनकारक है, सत्त्वगुण स्वयं नहीं। अतः भगवान् यहाँ रागको ही

१-प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। (योगदर्शन २। १८)

२-श्रीमद्भगवद्गीताकी एक बहुत बड़ी विलक्षणता यह है कि वह किसी मतका खण्डन किये बिना ही उस विषयमें अपनी मान्यता प्रकट कर देती है। गीतामें भगवान्ने क्रियाको भी रजोगुण माना है—'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणाम्' (१४। १२), और क्रियाको सात्त्विक भी बताया है (अठारहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इसलिये दोष क्रियाओंमें नहीं है, प्रत्युत राग या आसक्तिमें है। रागपूर्वक किये हुए कर्म ही बाँधते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्य कर्मोंकी आसक्ति और फलेच्छासे ही बाँधता है, कर्मोंको करनेमात्रसे नहीं। राग न रहनेपर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मनुष्य नहीं बाँधता (चौथे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। अगर क्रियामात्र ही बन्धनकारक होती तो जीवन्मुक्त महापुरुषोंको भी बाँध देती; क्योंकि क्रियाएँ तो उनके द्वारा भी होती ही हैं (चौदहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। भगवान्के द्वारा सृष्टिकी रचना करना भी 'कर्म' है तथा अवतार लेकर वे भी क्रियाएँ (लीलाएँ) करते हैं, पर कर्मोंमें आसक्ति न रहनेसे उनको कर्म बाँधते नहीं (नवें अध्यायका नवाँ श्लोक)।

अठारहवें अध्यायके तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकमें भगवान्ने सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके कर्मोंका वर्णन किया है। अगर मात्र कर्म रजोगुण ही होते, तो फिर उनके सात्त्विक और तामस भेद कैसे होते? इससे सिद्ध होता है कि गीता मुख्यतः रागको ही रजोगुण कहती है।

रजोगुणका मुख्य स्वरूप जाननेके लिये कह रहे हैं।

महासर्गके आदिमें परमात्माका 'बहु स्यां प्रजायेय'— यह संकल्प होता है। यह संकल्प रजोगुणी है। इसको गीताने 'कर्म' नामसे कहा है (आठवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। जिस प्रकार दहीको बिलोनेसे मक्खन और छाछ अलग-अलग हो जाते हैं, ऐसे ही सृष्टिरचनाके इस रजोगुणी संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ पैदा होता है, जिससे सत्त्वगुणरूपी मक्खन और तमोगुणरूपी छाछ अलग-अलग हो जाती है। सत्त्वगुणसे अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुणसे स्थूल पदार्थ, शरीर आदिका निर्माण होता है। तीनों गुणोंसे संसारके अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार महासर्गके आदिमें भगवान्का सृष्टिरचनारूप कर्म भी सर्वथा रागरहित होता है (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

'तृष्णासंगसमुद्भवम्'—प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि बने रहें तथा वे और भी मिलते रहें—ऐसी 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह तृष्णा पैदा हो जाती है। इस तृष्णासे फिर वस्तु आदिमें आसक्ति पैदा हो जाती है।

व्याकरणके अनुसार इस 'तृष्णासंगसमुद्भवम्' पदके दो अर्थ होते हैं—(१) जिससे तृष्णा और आसक्ति पैदा होती है^१ अर्थात् तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाला और (२) जो तृष्णा और आसक्तिसे पैदा होता है^२ अर्थात् तृष्णा और आसक्तिसे पैदा होनेवाला। जैसे बीज और वृक्ष अन्योन्य कारण हैं, अर्थात् बीजसे वृक्ष पैदा होता है और वृक्षसे फिर बहुत-से बीज पैदा हो जाते हैं, ऐसे ही रागस्वरूप रजोगुणसे तृष्णा और आसक्ति बढ़ती है तथा तृष्णा और आसक्तिसे रजोगुण बहुत बढ़ जाता है। तात्पर्य है कि ये दोनों ही एक-दूसरेको पुष्ट करनेवाले हैं। अतः उपर्युक्त दोनों ही अर्थ ठीक हैं।

'तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्'—रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिसे शरीरधारीको बाँधता है अर्थात् रजोगुणके बढ़नेपर ज्यों-ज्यों तृष्णा और आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों मनुष्यकी कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है। कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ़नेसे मनुष्य नये-नये कर्म करना शुरू कर देता है। फिर वह रात-दिन इस प्रवृत्तिमें ही फँसा रहता है अर्थात् मनुष्यकी मनोवृत्तियाँ रात-दिन नये-नये कर्म आरम्भ करनेके चिन्तनमें लगी रहती हैं। ऐसी अवस्थामें

उसको अपना कल्याण, उद्धार करनेका अवसर ही प्राप्त नहीं होता। इस तरह रजोगुण कर्मोंकी सुखासक्तिसे शरीरधारीको बाँध देता है अर्थात् जन्म-मरणमें ले जाता है। अतः साधकको प्राप्त परिस्थितिके अनुसार निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म तो कर देना चाहिये, पर संग्रह और सुखभोगके लिये नये-नये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये।

'देहिनम्' पदका तात्पर्य है कि देहसे अपना सम्बन्ध माननेवाले देहीको ही यह रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधता है।

सकामभावसे कर्मोंको करनेमें भी एक सुख होता है और 'कर्मोंका अमुक फल भोगेंगे' इस फलासक्तिमें भी एक सुख होता है। इस कर्म और फलकी सुखासक्तिसे मनुष्य बाँध जाता है।

कर्मोंकी सुखासक्तिसे छूटनेके लिये साधक यह विचार करे कि ये पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि कितने दिन हमारे साथ रहेंगे। कारण कि सब दृश्य प्रतिक्षण अदृश्यतामें जा रहा है; जीवन प्रतिक्षण मृत्युमें जा रहा है; सर्ग प्रतिक्षण प्रलयमें जा रहा है; महासर्ग प्रतिक्षण महाप्रलयमें जा रहा है। आज दिनतक जो बाल्य, युवा आदि अवस्थाएँ चली गयीं, वे फिर नहीं मिल सकतीं। जो समय चला गया, वह फिर नहीं मिल सकता। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और धनियोंकी अन्तिम दशाको याद करनेसे तथा बड़े-बड़े राजमहलों और मकानोंके खण्डहरोंको देखनेसे साधकको यह विचार आना चाहिये कि उनकी जो दशा हुई है, वही दशा इस शरीर, धन-सम्पत्ति, मकान आदिकी भी होगी। परन्तु मैंने इनके प्रलोभनमें पड़कर अपनी शक्ति, बुद्धि, समयको बरबाद कर दिया है। यह तो बड़ी भारी हानि हो गयी! ऐसे विचारोंसे साधकके अन्तःकरणमें सात्त्विक वृत्तियाँ आयेंगी और वह कर्मसंगसे ऊँचा उठ जायगा।

अगर मैं रात-दिन नये-नये कर्मोंके करनेमें ही लगा रहूँगा, तो मेरा मनुष्यजन्म निरर्थक चला जायगा और उन कर्मोंकी आसक्तिसे मेरेको न जाने किन-किन योनियोंमें जाना पड़ेगा और कितनी बार जन्मना-मरना पड़ेगा! इसलिये मुझे संग्रह और सुख-भोगके लिये नये-नये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना है, प्रत्युत प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अनासक्तभावसे कर्तव्य-कर्म करना है! ऐसे विचारोंसे भी साधक कर्मोंकी आसक्तिसे ऊँचा उठ जाता है।

१-तृष्णायाः संगस्य च समुद्भवो यस्मात्।

२-तृष्णायाः संगच्च समुद्भवो यस्य।

परिशिष्ट भाव—रजोगुण कर्मोंके संगसे मनुष्यको बाँधता है। अतः सात्त्विक कर्म भी संग होनेसे बाँधनेवाले हो जाते हैं। अगर संग न हो तो कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। इसलिये कर्मयोगसे मुक्ति हो जाती है; क्योंकि कर्मोंका और उनके फलका संग न होनेसे ही कर्मयोग होता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)।

सम्बन्ध—तमोगुणका स्वरूप और उसके बाँधनेका प्रकार क्या है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तु	= और	तमः	= तमोगुणको	प्रमादालस्यनिद्राभिः	= प्रमाद, आलस्य
भारत	= हे भरतवंशी		(तुम)		और निद्राके द्वारा
	अर्जुन!	अज्ञानजम्	= अज्ञानसे उत्पन्न	निबध्नाति	= (देहके साथ
सर्वदेहिनाम्	= सम्पूर्ण		होनेवाला		अपना सम्बन्ध
	देहधारियोंको	विद्धि	= समझो।		माननेवालों-
मोहनम्	= मोहित करनेवाले	तत्	= वह		को) बाँधता है।

व्याख्या—‘तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व-देहिनाम्’—सत्त्वगुण और रजोगुण—इन दोनोंसे तमोगुणको अत्यन्त निकृष्ट बतानेके लिये यहाँ ‘तु’ पदका प्रयोग हुआ है।

यह तमोगुण अज्ञानसे अर्थात् बेसमझीसे, मूर्खतासे पैदा होता है और सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित कर देता है अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) नहीं होने देता। इतना ही नहीं, यह सांसारिक सुख-भोग और संग्रहमें भी नहीं लगने देता अर्थात् राजस सुखमें भी नहीं जाने देता, फिर सात्त्विक सुखकी तो बात ही क्या है!

वास्तवमें तमोगुणके द्वारा मोहित होनेकी बात केवल मनुष्योंके लिये ही है; क्योंकि दूसरे प्राणी तो स्वाभाविक ही तमोगुणसे मोहित हैं। फिर भी यहाँ ‘सर्वदेहिनाम्’ पद देनेका तात्पर्य है कि जिन मनुष्योंमें सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) नहीं है, वे मनुष्य होते हुए भी चौरासी लाख योनियोंवाले प्राणियोंके समान ही हैं अर्थात् जैसे पशु-पक्षी आदि प्राणी खा-पी लेते हैं और सो जाते हैं, ऐसे ही वे मनुष्य भी हैं।

‘प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत’—यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा सम्पूर्ण देहधारियोंको बाँध देता है।

‘प्रमाद’ दो तरहका होता है—(१) करनेलायक

कामको न करना अर्थात् जिस कामसे अपना और दुनियाका, अभी और परिणाममें हित होता है, ऐसे कर्तव्य-कर्मोंको प्रमादके कारण न करना; और (२) न करनेलायक कामको करना अर्थात् जिस कामसे अपना और दुनियाका अभी और परिणाममें अहित होता है, ऐसे कर्मोंको करना।

न करनेलायक काम भी दो तरहके होते हैं—१—व्यर्थ खर्च करना अर्थात् बीड़ी-सिगरेट, भाँग-गाँजा आदि पीनेमें और नाटक-सिनेमा, खेल आदि देखनेमें धन खर्च करना; और २—व्यर्थ क्रिया करना अर्थात् ताश-चौपड़ खेलना, खेल-कूद करना, बिना किसी कारणके पशु-पक्षी आदिको कष्ट देना, तंग करना, बिना किसी स्वार्थके छोटे-छोटे पेड़-पौधोंको नष्ट कर देना आदि व्यर्थ क्रियाएँ करना।

‘आलस्य’ भी दो प्रकारका होता है—(१) सोते रहना, निकम्मे बैठे रहना, आवश्यक काम न करना और ऐसा विचार रखना कि फिर कर लेंगे, अभी तो बैठे हैं—इस तरहका आलस्य मनुष्यको बाँधता है; और (२) निद्राके पहले शरीर भारी हो जाना, वृत्तियोंका भारी हो जाना, समझनेकी शक्ति न रहना—इस तरहका आलस्य दोषी नहीं है; क्योंकि यह आलस्य आता है, मनुष्य करता नहीं।

‘निद्रा’ भी दो तरहकी होती है—(१) आवश्यक निद्रा—जो निद्रा शरीरके स्वास्थ्यके लिये नियमितरूपसे ली जाती है और जिससे शरीरमें हलकापन आता है, वृत्तियाँ

स्वच्छ होती हैं, बुद्धिको विश्राम मिलता है, ऐसी आवश्यक निद्रा त्याज्य और दोषी नहीं है। भगवान्ने भी ऐसी नियमित निद्राको दोषी नहीं माना है, प्रत्युत योग-साधनमें सहायक माना है—‘युक्तस्वप्नावबोधस्य’ (६। १७) और (२) अनावश्यक निद्रा—जो निद्रा निद्राके लिये ली जाती है, जिससे बेहोशी ज्यादा आती है, नींदसे उठनेपर भी शरीर भारी रहता है, वृत्तियाँ भारी रहती हैं, पुरानी स्मृति नहीं होती, ऐसी अनावश्यक निद्रा त्याज्य और दोषी है। इस अनावश्यक निद्राको भगवान्ने भी त्याज्य बताया है—‘न चाति स्वप्नशीलस्य’ (६। १६)।

इस तरह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा मनुष्यको बाँध देता है अर्थात् उसकी सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति नहीं होने देता।

विशेष बात

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण मनुष्यको बाँधते हैं, पर इन तीनोंके बाँधनेके प्रकारमें फरक है। सत्त्वगुण और रजोगुण ‘संग’ से बाँधते हैं अर्थात् सत्त्वगुण सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे तथा रजोगुण कर्मकी आसक्तिसे बाँधता

है। अतः सत्त्वगुणमें ‘सुखसंग और ज्ञानसंग’ बताया तथा रजोगुणमें ‘कर्मसंग’ बताया। परन्तु तमोगुणमें ‘संग’ नहीं बताया; क्योंकि तमोगुण मोहनात्मक है। इसमें किसीका संग करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। यह तो स्वरूपसे ही बाँधनेवाला है। तात्पर्य यह हुआ कि सत्त्वगुण और रजोगुण तो संग-(सुखासक्ति-) से बाँधते हैं, पर तमोगुण स्वरूपसे ही बाँधनेवाला है।

अगर सुखकी आसक्ति न हो और ज्ञानका अभिमान न हो तो सुख और ज्ञान बाँधनेवाले नहीं होते, प्रत्युत गुणातीत करनेवाले होते हैं। ऐसे ही कर्म और कर्मफलमें आसक्ति न हो, तो वह कर्म परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला होता है (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

उपर्युक्त तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं प्रकृति और उसके कार्य गुणोंसे सर्वथा रहित है। गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वह स्वयं निर्लिप्त, गुणातीत होता हुआ भी गुणोंके द्वारा बाँध जाता है। अतः अपने वास्तविक स्वरूपका लक्ष्य रखनेसे ही साधक गुणोंके बन्धनसे छूट सकता है।

सम्बन्ध—बाँधनेसे पहले तीनों गुण क्या करते हैं—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ १ ॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!		(मनुष्यपर)	आवृत्य	= ढककर
सत्त्वम्	= सत्त्वगुण	सञ्जयति	= विजय करता है।	उत	= एवं
सुखे	= सुखमें (और)	तु	= परन्तु	प्रमादे	= प्रमादमें लगाकर (मनुष्यपर)
रजः	= रजोगुण	तमः	= तमोगुण	सञ्जयति	= विजय करता है।
कर्मणि	= कर्ममें लगाकर	ज्ञानम्	= ज्ञानको		

व्याख्या—‘सत्त्वं सुखे सञ्जयति’—सत्त्वगुण साधकको सुखमें लगाकर अपनी विजय करता है, साधकको अपने वशमें करता है। तात्पर्य है कि जब सात्त्विक सुख आता है, तब साधककी उस सुखमें आसक्ति हो जाती है। सुखमें आसक्ति होनेसे वह सुख साधकको बाँध देता है अर्थात् उसके साधनको आगे नहीं बढ़ने देता, जिससे साधक सत्त्वगुणसे ऊँचा नहीं उठ सकता, गुणातीत नहीं हो सकता।

यद्यपि भगवान्ने पहले छठे श्लोकमें सत्त्वगुणके

द्वारा सुख और ज्ञानके संगसे बाँधनेकी बात बतायी है, तथापि यहाँ सत्त्वगुणकी विजय केवल सुखमें ही बतायी है, ज्ञानमें नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें साधक सुखकी आसक्तिसे ही बाँधता है। ज्ञान होनेपर साधकमें एक अभिमान आ जाता है कि ‘मैं कितना जानकार हूँ!’ इस अभिमानमें भी एक सुख मिलता है, जिससे साधक बाँध जाता है। इसलिये यहाँ सत्त्वगुणकी केवल सुखमें ही विजय बतायी है।

‘रजः कर्मणि भारत’—रजोगुण मनुष्यको कर्ममें लगाकर अपनी विजय करता है। तात्पर्य है कि मनुष्यको क्रिया करना अच्छा लगता है, प्रिय लगता है। जैसे छोटा बालक पड़े-पड़े हाथ-पैर हिलाता है तो उसको अच्छा लगता है और उसका हाथ-पैर हिलाना बंद कर दिया जाय तो वह रोने लगता है। ऐसे ही मनुष्य कोई क्रिया करता है तो उसको अच्छा लगता है और उसकी उस क्रियाको बीचमें कोई छुड़ा दे तो उसको बुरा लगता है। यही क्रियाके प्रति आसक्ति है, प्रियता है, जिससे रजोगुण मनुष्यपर विजय करता है।

‘कर्मोंके फलमें तेरा अधिकार नहीं है’ (गीता—दूसरे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक) आदि वचनोंसे फलमें आसक्ति न रखनेकी तरफ तो साधकका खयाल जाता है, पर कर्मोंमें आसक्ति न रखनेकी तरफ साधकका खयाल नहीं जाता। वह ‘तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है; कर्म न करनेमें तेरी आसक्ति न हो’ (गीता—दूसरे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक), ‘जो योगारूढ़ होना चाहता है, उसके लिये निष्कामभावसे कर्म करना कारण है’ (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक) आदि वचनोंसे यही समझ लेता है कि कर्म तो करने ही चाहिये। अतः वह कर्म करता है, तो कर्मोंको करते-करते उसकी उन कर्मोंमें आसक्ति,

परिशिष्ट भाव—सत्त्वगुण केवल सुख होनेपर विजय नहीं करता, प्रत्युत सुखका संग होनेपर विजय करता है—‘सुखसंगेन बध्नाति’ (गीता १४।६)। इसी तरह रजोगुण भी कर्मका संग होनेपर विजय करता है—‘तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्’ (१४।७)। परन्तु तमोगुण स्वरूपसे ही विजय करता है। इसलिये तमोगुणमें ‘संग’ शब्द नहीं आया है।

‘मैं सुखी हूँ’—यह सुखका संग है और ‘मैं अच्छे कर्म करनेवाला हूँ, मेरे कर्म बड़े अच्छे हैं’—यह कर्मका संग है। संग करनेसे अर्थात् अपना सम्बन्ध जोड़नेसे ही मनुष्य बँधता है।

सम्बन्ध—एक-एक गुण मनुष्यपर कैसे विजय करता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	सत्त्वम्	= सत्त्वगुण	रजः	= रजोगुण (बढ़ता है)
		भवति	= बढ़ता है,	तथा, एव	= वैसे ही
रजः	= रजोगुण	सत्त्वम्	= सत्त्वगुण	सत्त्वम्	= सत्त्वगुण (और)
च	= और	च	= और	रजः	= रजोगुणको (दबाकर)
तमः	= तमोगुणको	तमः	= तमोगुणको (दबाकर)	तमः	= तमोगुण (बढ़ता है)।
अभिभूय	= दबाकर				

प्रियता हो जाती है, उनका आग्रह हो जाता है। इसकी तरफ खयाल करानेके लिये, सजग करानेके लिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि रजोगुण कर्ममें लगाकर विजय करता है अर्थात् कर्मोंमें आसक्ति पैदा करके बाँध देता है। अतः साधककी कर्तव्य-कर्म करनेमें तत्परता तो होनी चाहिये, पर कर्मोंमें आसक्ति, प्रियता, आग्रह कभी नहीं होना चाहिये—‘न कर्मस्वनुषज्जते’ (गीता ६।४)।

‘ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत’—जब तमोगुण आता है, तब वह सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, हित-अहितके ज्ञान-(विवेक-) को ढक देता है, आच्छादित कर देता है अर्थात् उस ज्ञानको जाग्रत् नहीं होने देता। ज्ञानको ढककर वह मनुष्यको प्रमादमें लगा देता है अर्थात् कर्तव्य-कर्मोंको करने नहीं देता और न करनेयोग्य कर्मोंमें लगा देता है। यही उसका विजयी होना है।

सत्त्वगुणसे ज्ञान (विवेक) और प्रकाश (स्वच्छता)—ये दो वृत्तियाँ पैदा होती हैं। तमोगुण इन दोनों ही वृत्तियोंका विरोधी है, इसलिये वह ज्ञान-(विवेक-)को ढककर मनुष्यको प्रमादमें लगाता है और प्रकाश-(इन्द्रियों और अन्तःकरणकी निर्मलता-) को ढककर मनुष्यको आलस्य एवं निद्रामें लगाता है, जिससे ज्ञानकी बातें कहने-सुनने, पढ़नेपर भी समझमें नहीं आती।

व्याख्या—‘रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत’— रजोगुणकी और तमोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है अर्थात् रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक भोग और संग्रहमें प्रियता आदि वृत्तियाँ और तमोगुणकी प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ—इन सबको ‘सत्त्वगुण’ दबा देता है और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता, वैराग्य, निःस्पृहता, उदारता, निवृत्ति आदि वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

‘रजः सत्त्वं तमश्चैव’—सत्त्वगुणकी और तमोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर रजोगुण बढ़ता है अर्थात् सत्त्वगुणकी ज्ञान, प्रकाश, वैराग्य, उदारता आदि वृत्तियाँ और तमोगुणकी प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ—इन सबको ‘रजोगुण’ दबा देता है और अन्तःकरणमें लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

‘तमः सत्त्वं रजस्तथा’—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है अर्थात् सत्त्वगुणकी स्वच्छता, निर्मलता, प्रकाश, उदारता आदि वृत्तियाँ और रजोगुणकी चंचलता, अशान्ति, लोभ आदि वृत्तियाँ—इन सबको ‘तमोगुण’ दबा देता है और अन्तःकरणमें प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर विजय करता है और विजय करके मनुष्यको

परिशिष्ट भाव—जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यता हो जाती है और दूसरे गुणोंकी गौणता हो जाती है। यह गुणोंका स्वभाव है।

बाँध देता है। परन्तु भगवान्ने यहाँ (छठेसे दसवें श्लोकतक) उलटा क्रम दिया है अर्थात् पहले बाँधनेकी बात कही, फिर विजय करना कहा और फिर दो गुणोंको दबाकर एकका बढ़ना कहा। ऐसा क्रम देनेका तात्पर्य है—पहले भगवान्ने दूसरे श्लोकमें बताया कि जिन महापुरुषोंका प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है, वे महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते। कारण कि महासर्ग और महाप्रलय दोनों प्रकृतिके सम्बन्धसे ही होते हैं। परन्तु जो मनुष्य प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उनको प्रकृतिजन्य गुण बाँध देते हैं (चौदहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इसपर स्वाभाविक ही यह प्रश्न होता है कि उन गुणोंका स्वरूप क्या है और वे मनुष्यको किस प्रकार बाँध देते हैं? इसके उत्तरमें भगवान्ने छठेसे आठवें श्लोकतक क्रमशः सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवको बाँधे जानेका प्रकार बताया। इसपर प्रश्न होता है कि बाँधनेसे पहले तीनों गुण क्या करते हैं? इसके उत्तरमें भगवान्ने बताया कि बाँधनेसे पहले बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर विजय करता है, तब उसको बाँधता है (चौदहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। अब प्रश्न होता है कि गुण मनुष्यपर विजय कैसे करता है? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि दो गुणोंको दबाकर एक गुण मनुष्यपर विजय करता है (चौदहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। इस प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि भगवान्ने छठेसे दसवें श्लोकतक जो क्रम रखा है, वह ठीक ही है।

सम्बन्ध—जब दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, तब उस बढ़े हुए गुणके क्या लक्षण होते हैं—इसको बतानेके लिये पहले बढ़े हुए सत्त्वगुणके लक्षणोंका वर्णन करते हैं।

**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥**

यदा	= जब	प्रकाशः	= प्रकाश (स्वच्छता)	इति	= यह
अस्मिन्	= इस	उत	= और	विद्यात्	= जानना चाहिये
देहे	= मनुष्य-शरीरमें	ज्ञानम्	= विवेक		(कि)
सर्वद्वारेषु	= सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण)-में	उपजायते	= प्रकट हो जाता है,	सत्त्वम्	= सत्त्वगुण
		तदा	= तब	विवृद्धम्	= बढ़ा हुआ है।

व्याख्या—‘सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्’—ज्ञानं यदा—जिस समय रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, उस समय सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें तथा अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता प्रकट हो जाती है। जैसे सूर्यके प्रकाशमें सब वस्तुएँ साफ-साफ दीखती हैं, ऐसे ही स्वच्छ बहिःकरण और अन्तःकरणसे शब्दादि पाँचों विषयोंका यथार्थरूपसे ज्ञान होता है। मनसे किसी भी विषयका ठीक-ठीक मनन-चिन्तन होता है।

इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता होनेसे ‘सत् क्या है और असत् क्या है? कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है? लाभ किसमें है और हानि किसमें है? हित किसमें है और अहित किसमें है?’ आदि बातोंका स्पष्टतया ज्ञान (विवेक) हो जाता है।

यहाँ ‘देहेऽस्मिन्’ कहनेका तात्पर्य है कि सत्त्वगुणके बढ़नेका अर्थात् बहिःकरण और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता और विवेकशक्ति प्रकट होनेका अवसर इस मनुष्य-शरीरमें ही है, अन्य शरीरोंमें नहीं। भगवान्ने तमोगुणसे बँधनेवालोंके लिये ‘सर्वदेहिनाम्’ (१४।८) पदका प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य है कि रजोगुण-तमोगुण तो अन्य शरीरोंमें भी बढ़ते हैं, पर सत्त्वगुण मनुष्यशरीरमें ही बढ़ सकता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह रजोगुण और तमोगुणपर विजय प्राप्त करके सत्त्वगुणसे भी ऊँचा उठे। इसीमें मनुष्यजीवनकी सफलता है। भगवान्ने कृपापूर्वक मनुष्यशरीर देकर इन तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त करनेका पूरा अवसर, अधिकार, योग्यता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता दी है।

‘तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत’—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता और विवेकशक्ति आनेपर साधकको यह जानना चाहिये कि अभी सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ बढ़ी हुई हैं और रजोगुण-तमोगुणकी वृत्तियाँ दबी हुई हैं। अतः साधक कभी भी अपनेमें यह अभिमान न करे कि ‘मैं जानकार हो गया हूँ, ज्ञानी हो गया हूँ’ अर्थात् वह सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश और ज्ञानको अपना गुण न माने,

परिशिष्ट भाव—‘प्रकाश’ और ‘ज्ञान’ दोनोंमें भेद है। ‘प्रकाश’का अर्थ है—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जागृति अर्थात् रजोगुणसे होनेवाले मनोराज्यका तथा तमोगुणसे होनेवाले निद्रा, आलस्य और प्रमादका न होकर स्वच्छता होना। ‘ज्ञान’ का अर्थ है—विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, ग्राह्य-त्याज्य आदिका ज्ञान होना।

सम्बन्ध—बढ़े हुए रजोगुणके क्या लक्षण होते हैं—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

प्रत्युत सत्त्वगुणका ही कार्य, लक्षण माने।

यहाँ ‘इति विद्यात्’ पदोंका तात्पर्य है कि तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका पैदा होना, बढ़ना और एक गुणकी प्रधानता होनेपर दूसरे दो गुणोंका दबना आदि-आदि परिवर्तन गुणोंमें ही होते हैं, स्वरूपमें नहीं—इस बातको मनुष्यशरीरमें ही ठीक तरहसे समझा जा सकता है। परन्तु मनुष्य भगवान्के दिये विवेकको महत्त्व न देकर गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है और अपनेको सात्त्विक, राजस या तामस मानने लगता है। मनुष्यको चाहिये कि अपनेको ऐसा न मानकर सर्वथा निर्विकार, अपरिवर्तनशील जाने।

तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ अलग-अलग बनती-बिगड़ती हैं—इसका सबको अनुभव है। स्वयं परिवर्तनरहित और इन सब वृत्तियोंको देखनेवाला है। यदि स्वयं भी बदलनेवाला होता तो इन वृत्तियोंके बनने-बिगड़नेको कौन देखता? परिवर्तनको परिवर्तनरहित ही जान सकता है।

जब सात्त्विक वृत्तियोंके बढ़नेसे इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है और विवेक जाग्रत् हो जाता है, तब संसारसे राग हट जाता है और वैराग्य हो जाता है। अशान्ति मिट जाती है और शान्ति आ जाती है। लोभ मिट जाता है और उदारता आ जाती है। प्रवृत्ति निष्कामभावपूर्वक होने लगती है (गीता—अठारहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। भोग और संग्रहके लिये नये-नये कर्मोंका आरम्भ नहीं होता। मनमें पदार्थों, भोगोंकी आवश्यकता पैदा नहीं होती, प्रत्युत निर्वाहमात्रकी दृष्टि रहती है। हरेक विषयको समझनेके लिये बुद्धिका विकास होता है। हरेक कार्य सावधानीपूर्वक और सुचारुरूपसे होता है। कार्योंमें भूल कम होती है। कभी भूल हो भी जाती है तो उसका सुधार होता है, लापरवाही नहीं होती। सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक स्पष्टतया जाग्रत् रहता है। अतः जिस समय सात्त्विक वृत्तियाँ बढ़ी हों, उस समय साधकको विशेषरूपसे भजन-ध्यान आदिमें लग जाना चाहिये। ऐसे समयमें किये गये थोड़े-से साधनसे भी शीघ्र ही बहुत लाभ हो सकता है।

भरतर्षभ	= हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन!	लोभः	= लोभ,	अशमः	= अशान्ति (और)
रजसि	= रजोगुणके	प्रवृत्तिः	= प्रवृत्ति,	स्पृहा	= स्पृहा—
विवृद्धे	= बढ़नेपर	कर्मणाम्	= कर्मोंका	एतानि	= ये वृत्तियाँ
		आरम्भः	= आरम्भ,	जायन्ते	= पैदा होती हैं।

व्याख्या—‘लोभः’—निर्वाहकी चीजें पासमें होनेपर भी उनको अधिक बढ़ानेकी इच्छाका नाम ‘लोभ’ है। परन्तु उन चीजोंके स्वाभाविक बढ़नेका नाम लोभ नहीं है। जैसे, कोई खेती करता है और अनाज ज्यादा पैदा हो गया, व्यापार करता है और मुनाफा ज्यादा हो गया, तो इस तरह पदार्थ, धन आदिके स्वाभाविक बढ़नेका नाम लोभ नहीं है और यह बढ़ना दोषी भी नहीं है।

‘प्रवृत्तिः’—कार्यमात्रमें लग जानेका नाम ‘प्रवृत्ति’ है। परन्तु राग-द्वेषरहित होकर कार्यमें लग जाना दोषी नहीं है; क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति तो गुणातीत महापुरुषमें भी होती है (गीता—चौदहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। रागपूर्वक अर्थात् सुख, आराम, धन आदिकी इच्छाको लेकर क्रियामें प्रवृत्त हो जाना ही दोषी है।

‘आरम्भः कर्मणाम्’—संसारमें धनी और बड़ा कहलानेके लिये; मान, आदर, प्रशंसा आदि पानेके लिये नये-नये कर्म करना, नये-नये व्यापार शुरू करना, नयी-नयी फैक्टरियाँ खोलना, नयी-नयी दूकानें खोलना आदि ‘कर्मोंका आरम्भ’ है।

प्रवृत्ति और आरम्भ—इन दोनोंमें अन्तर है। परिस्थितिके आनेपर किसी कार्यमें प्रवृत्ति होती है और किसी कार्यसे निवृत्ति होती है। परन्तु भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंको शुरू करना ‘आरम्भ’ है।

मनुष्यजन्म प्राप्त होनेपर केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका ही उद्देश्य रहे, भोग और संग्रहका उद्देश्य बिलकुल न रहे—इसी दृष्टिसे भक्तियोग और ज्ञानयोगमें ‘सर्वारम्भपरित्यागी’ (बारहवें अध्यायका सोलहवाँ और चौदहवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) पदसे सम्पूर्ण आरम्भोंका त्याग करनेके लिये कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मोंके आरम्भ तो होते हैं, पर

वे सभी आरम्भ कामना और संकल्पसे रहित होते हैं (गीता—चौथे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। कर्मयोगमें ऐसे आरम्भ दोषी भी नहीं हैं; क्योंकि कर्मयोगमें कर्म करनेका विधान है और बिना कर्म किये कर्मयोगी योग-(समता-) पर आरूढ़ नहीं हो सकता (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। अतः आसक्तिरहित होकर प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्मोंके आरम्भ किये जायें, तो वे आरम्भ-आरम्भ नहीं हैं, प्रत्युत प्रवृत्तिमात्र ही हैं; क्योंकि उनसे कर्म करनेका राग मिटता है। वे आरम्भ निवृत्ति देनेवाले होनेसे दोषी नहीं हैं।

‘अशमः’—अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल रहनेका नाम ‘अशम’ है। जैसी इच्छा करते हैं, वैसी चीजें (धन, सम्पत्ति, यश, प्रतिष्ठा आदि) जब नहीं मिलतीं, तब अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल होती है। कामनाका त्याग करनेपर यह अशान्ति नहीं रहती।

‘स्पृहा’—स्पृहा नाम परवाहका है; जैसे—भूख लगनेपर अन्नकी, प्यास लगनेपर जलकी, जाड़ा लगनेपर कपड़ेकी परवाह, आवश्यकता होती है। वास्तवमें भूख, प्यास और जाड़ा—इनका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत अन्न, जल आदि मिल जाय—ऐसी इच्छा करना ही दोषी है। साधकको इस इच्छाका त्याग करना चाहिये; क्योंकि कोई भी वस्तु इच्छाके अधीन नहीं है।

‘रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ’—जब भीतरमें रजोगुण बढ़ता है, तब उपर्युक्त लोभ, प्रवृत्ति आदि वृत्तियाँ बढ़ती हैं। ऐसे समयमें साधकको यह विचार करना चाहिये कि अपना जीवन-निर्वाह तो हो ही रहा है, फिर अपने लिये और क्या चाहिये? ऐसा विचार करके रजोगुणकी वृत्तियोंको मिटा दे, उनसे उदासीन हो जाय।

परिशिष्ट भाव—रजोगुणके बढ़नेपर सत्त्वगुणके प्रकाश और ज्ञान दब जाते हैं। रजोगुण असंगताका विरोधी है—‘रजो रागात्मकं विद्धि’ (गीता १४।७)। क्रिया और पदार्थका संग करनेके कारण यह मनुष्यको योगारूढ़ नहीं होने देता। कारण कि मनुष्य क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर ही योगारूढ़ होता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)।

सम्बन्ध—बढ़े हुए तमोगुणके क्या लक्षण होते हैं—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन	= हे कुरुनन्दन !	अप्रवृत्तिः	= अप्रवृत्ति,	मोहः	= मोह
तमसि	= तमोगुणके	च	= तथा	एतानि	= —ये वृत्तियाँ
विवृद्धे	= बढ़नेपर	प्रमादः	= प्रमाद	एव	= भी
अप्रकाशः	= अप्रकाश,	च	= और	जायन्ते	= पैदा होती हैं।

व्याख्या—‘अप्रकाशः’—सत्त्वगुणकी प्रकाश (स्वच्छता-) वृत्तिको दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें स्वच्छता नहीं रहती। इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें जो समझनेकी शक्ति है, वह तमोगुणके बढ़नेपर लुप्त हो जाती है अर्थात् पहली बात तो याद रहती नहीं और नया विवेक पैदा होता नहीं। इस वृत्तिको यहाँ ‘अप्रकाश’ कहकर इसका सत्त्वगुणकी वृत्ति ‘प्रकाश’ के साथ विरोध बताया गया है।

‘अप्रवृत्तिः’—रजोगुणकी वृत्ति ‘प्रवृत्ति’ को दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब कार्य करनेका मन नहीं करता। निरर्थक बैठे रहने अथवा पड़े रहनेका मन करता है। आवश्यक कार्यको करनेकी भी रुचि नहीं होती। यह सब ‘अप्रवृत्ति’ वृत्तिका काम है।

‘प्रमादः’—न करनेलायक काममें लग जाना और करनेलायक कामको न करना, तथा जिन कामोंको करनेसे न पारमार्थिक उन्नति होती है, न सांसारिक उन्नति होती है, न समाजका कोई काम होता है और जो शरीरके लिये भी आवश्यक नहीं है—ऐसे बीड़ी-सिगरेट, ताश-चौपड़, खेल-तमाशे आदि कार्योंमें लग जाना ‘प्रमाद’ वृत्तिका काम है।

‘मोहः’—तमोगुणके बढ़नेपर जब ‘मोह’ वृत्ति आ जाती है, तब भीतरमें विवेक-विरोधी भाव पैदा होने लगते हैं। क्रियाके करने और न करनेमें विवेक काम नहीं करता, प्रत्युत मूढ़ता छापी रहती है, जिससे पारमार्थिक और व्यावहारिक काम करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती।

‘एव च’—इन पदोंसे अधिक निद्रा लेना, अपने जीवनका समय निरर्थक नष्ट करना, धन निरर्थक नष्ट करना आदि जितने भी निरर्थक कार्य हैं, उन सबको ले लेना चाहिये।

‘तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन’—ये सब बढ़े हुए तमोगुणके लक्षण हैं अर्थात् जब ये अप्रकाश, अप्रवृत्ति आदि दिखायी दें, तब समझना चाहिये कि सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ा है।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों ही गुण सूक्ष्म होनेसे अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियाँ और अन्तःकरणके विषय नहीं हैं। इसलिये ये तीनों गुण साक्षात् देखनेमें नहीं आते, इनके स्वरूपका साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इन गुणोंका ज्ञान, इनकी

पहचान तो वृत्तियोंसे ही होती है; क्योंकि वृत्तियाँ स्थूल होनेसे वे इन्द्रियाँ और अन्तःकरणका विषय हो जाती हैं। इसलिये भगवान्ने ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका ही वर्णन किया है, जिससे अतीन्द्रिय गुणोंकी पहचान हो जाय और साधक सावधानीपूर्वक रजोगुण-तमोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणकी वृद्धि कर सके।

मार्मिक बात

सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ स्वाभाविक ही उत्पन्न, नष्ट तथा कम-अधिक होती रहती हैं। ये सभी परिवर्तनशील हैं। साधक अपने जीवनमें इन वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ बदलनेवाली हैं और इनके परिवर्तनको जाननेवाले पुरुषमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और पुरुष इनको देखनेवाला होनेसे द्रष्टा है। द्रष्टा दृश्यसे सर्वथा भिन्न होता है—यह नियम है। दृश्यकी तरफ दृष्टि होनेसे ही द्रष्टा संज्ञा होती है। दृश्यपर दृष्टि न रहनेपर द्रष्टा संज्ञारहित रहता है। भूल यह होती है कि दृश्यको अपनेमें आरोपित करके वह ‘मैं कामी हूँ’, ‘मैं क्रोधी हूँ’ आदि मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंसे सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपनेमें मान लेना उन विकारोंको निमन्त्रण देना है और उन्हें स्थायी बनाना है। मनुष्य भूलसे क्रोध आनेके समय क्रोधको उचित समझता है और कहता है कि यह तो सभीको आता है और अन्य समय ‘मेरा क्रोधी स्वभाव है’—ऐसा भाव रखता है। इस प्रकार ‘मैं क्रोधी हूँ’ ऐसा मान लेनेसे वह क्रोध अहंतामें बैठ जाता है। फिर क्रोधरूप विकारसे छूटना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि साधक प्रयत्न करनेपर भी क्रोधादि विकारोंको दूर नहीं कर पाता और उनसे अपनी हार मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंको दूर करनेका मुख्य और सुगम उपाय यह है कि साधक इनको अपनेमें कभी माने ही नहीं। वास्तवमें विकार निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत विकाररहित अवस्था निरन्तर रहती है। कारण कि विकार तो आते और चले जाते हैं, पर स्वयं निरन्तर निर्विकार रहता है। क्रोधादि

विकार भी अपनेमें नहीं, प्रत्युत मन-बुद्धिमें आते हैं। परन्तु साधक मन-बुद्धिसे मिलकर उन विकारोंको भूलसे अपनेमें मान लेता है। अगर वह विकारोंको अपनेमें न माने, तो उनसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। फिर विकारोंको दूर करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वे अपने-आप दूर हो जाते हैं। जैसे, क्रोधके आनेपर साधक ऐसा विचार करे कि 'मैं तो वही हूँ; मैं आने-जानेवाले क्रोधसे कभी मिल सकता ही नहीं।' ऐसा विचार दृढ़ होनेपर क्रोधका वेग कम हो जायगा और वह पहलेकी अपेक्षा कम बार आयेगा। फिर अन्तमें वह सर्वथा दूर हो जायगा।

भगवान् पूर्वोक्त तीन श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसको अपनेमें प्रतीत होती हैं, वास्तवमें साधकका इनके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। गुण एवं गुणोंकी वृत्तियाँ प्रकृतिका

कार्य होनेसे परिवर्तनशील हैं और स्वयं पुरुष परमात्माका अंश होनेसे अपरिवर्तनशील है। प्रकृति और पुरुष—दोनों विजातीय हैं। बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका एकात्मभाव हो ही कैसे सकता है? इस वास्तविकताकी तरफ दृष्टि रखनेसे तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं तथा साधकमें सत्त्वगुणकी वृद्धि स्वतः हो जाती है। सत्त्वगुणमें भोग-बुद्धि होनेसे अर्थात् उससे होनेवाले सुखमें राग होनेसे यह सत्त्वगुण भी गुणातीत होनेमें बाधा उत्पन्न कर देता है। अतः साधकको सत्त्वगुणसे उत्पन्न सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। सात्त्विक सुखका उपभोग करना रजोगुण-अंश है। रजोगुणमें राग बढ़नेपर रागमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध पैदा होकर सम्मोह हो जाता है और रागके अनुसार पदार्थ मिलनेपर लोभ पैदा होकर सम्मोह हो जाता है। इस प्रकार सम्मोह पैदा होनेसे वह रजोगुणसे तमोगुणमें चला जाता है और उसका पतन हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—अप्रकाश और अप्रवृत्ति तो सत्त्वगुण और रजोगुणके विरोधी हैं तथा प्रमाद और मोह तमोगुणके अपने हैं।

सम्बन्ध—तात्कालिक बढ़े हुए गुणोंकी वृत्तियोंका फल क्या होता है—इसे आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

**यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥**

यदा	= जिस समय	तु	= यदि	उत्तमविदाम्	= उत्तमवेत्ताओंके
सत्त्वे	= सत्त्वगुण	देहभृत्	= देहधारी मनुष्य	अमलान्	= निर्मल
प्रवृद्धे	= बढ़ा हो,	प्रलयम्,	= मर जाता है (तो वह)	लोकान्	= लोकोंमें
तदा	= उस समय	याति		प्रतिपद्यते	= जाता है।

व्याख्या—'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे' 'प्रतिपद्यते'—जिस कालमें जिस-किसी भी देहधारी मनुष्यमें, चाहे वह सत्त्वगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी ही क्यों न हो, जिस-किसी कारणसे सत्त्वगुण तात्कालिक बढ़ जाता है अर्थात् सत्त्वगुणके कार्य स्वच्छता, निर्मलता आदि वृत्तियाँ तात्कालिक बढ़ जाती हैं, उस समय अगर उस मनुष्यके प्राण छूट जाते हैं, तो वह उत्तम (शुभ) कर्म करनेवालोंके निर्मल लोकोंमें चला जाता है।

'उत्तमविदाम्' कहनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य उत्तम (शुभ) कर्म ही करते हैं, अशुभ-कर्म कभी करते

ही नहीं अर्थात् उत्तम ही उनके भाव हैं, उत्तम ही उनके कर्म हैं और उत्तम ही उनका ज्ञान है, ऐसे पुण्यकर्मा लोगोंका जिन लोकोंपर अधिकार हो जाता है, उन्हीं निर्मल लोकोंमें वह मनुष्य चला जाता है, जिसका शरीर सत्त्वगुणके बढ़नेपर छूटा है। तात्पर्य है कि उग्रभर शुभ-कर्म करनेवालोंको जिन ऊँचे-ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन्हीं लोकोंमें तात्कालिक बढ़े हुए सत्त्वगुणकी वृत्तिमें प्राण छूटनेवाला जाता है।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें शरीर छोड़नेवाले मनुष्य पुण्यात्माओंके प्राप्तव्य ऊँचे लोकोंमें जाते हैं—इससे

सिद्ध होता है कि गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ कर्मोंकी अपेक्षा कमजोर नहीं हैं। अतः सात्त्विक वृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है। इस दृष्टिसे शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका ही महत्त्व है, पुण्यकर्मविशेषका नहीं। इसलिये सात्त्विक भावका स्थान बहुत ऊँचा है। पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारों क्रमशः एक-दूसरेसे ऊँचे होते हैं।

रजोगुण और तमोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुणकी वृत्ति सूक्ष्म और व्यापक होती है। लोकमें भी स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मका आहार कम होता है; जैसे—देवतालोग सूक्ष्म होनेसे केवल सुगन्धिसे ही तृप्त हो जाते हैं। हाँ, स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्ममें शक्ति अवश्य अधिक होती है। यही कारण है कि सूक्ष्मभावकी प्रधानतासे अन्तसमयमें सत्त्वगुणकी वृद्धि

मनुष्यको ऊँचे लोकोंमें ले जाती है।

‘अमलान्’ कहनेका तात्पर्य है कि सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल है; अतः सत्त्वगुणके बढ़नेपर जो मरता है, उसको निर्मल लोकोंकी ही प्राप्ति होती है।

यहाँ यह शंका होती है कि उग्रभर शुभ-कर्म करनेवालोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंमें सत्त्वगुणकी वृत्ति बढ़नेपर मरनेवाला कैसे चला जायगा? भगवान्की यह एक विशेष छूट है कि अन्तकालमें मनुष्यकी जैसी मति होती है, वैसी ही उसकी गति होती है (गीता—आठवें अध्यायका छठाँ श्लोक)। अतः सत्त्वगुणकी वृत्तिके बढ़नेपर शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उत्तम लोकोंमें चला जाय—इसमें शंकाकी कोई बात ही नहीं है।

परिशिष्ट भाव—‘तदोत्तमविदां लोकानमलान्’—विवेकवान् पुरुष उत्तमवेत्ता हैं। यदि सत्त्वगुणको अपना मानकर उसमें रमण न करे और भगवान्की सम्मुखता रहे तो सात्त्विक मनुष्य सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंको चला जायगा।

‘अमलान्’—ब्रह्मलोकतकके लोकोंमें तो सापेक्ष निर्मलता है, पर भगवान्के परमधाममें निरपेक्ष निर्मलता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजसि	= रजोगुणके बढ़नेपर	जायते	= जन्म लेता है	प्रलीनः	= मरनेवाला
प्रलयम्, गत्वा	= मरनेवाला प्राणी	तथा	= तथा	मूढयोनिषु	= मूढ़ योनियोंमें
कर्मसङ्गिषु	= कर्मसंगी	तमसि	= तमोगुणके	जायते	= जन्म
	मनुष्ययोनिमें		बढ़नेपर		लेता है।

व्याख्या—‘रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते’—अन्तसमयमें जिस-किसी भी मनुष्यमें जिस-किसी कारणसे रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं और उसी वृत्तिके चिन्तनमें उसका शरीर छूट जाता है, तो वह मृतात्मा प्राणी कर्मोंमें आसक्ति रखनेवाले मनुष्योंमें जन्म लेता है।

जिसने उग्रभर अच्छे काम, आचरण किये हैं, जिसके अच्छे भाव रहे हैं, वह यदि अन्तकालमें रजोगुणके बढ़नेपर मर जाता है, तो मरनेके बाद मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी उसके आचरण, भाव अच्छे ही रहेंगे, वह शुभ-कर्म करने-वाला ही होगा। जिसका साधारण जीवन रहा है, वह यदि अन्तसमयमें रजोगुणकी लोभ आदि वृत्तियोंके बढ़नेपर मर जाता है, तो वह मनुष्ययोनिमें आकर पदार्थ, व्यक्ति, क्रिया

आदिमें आसक्तिवाला ही होगा। जिसके जीवनमें काम, क्रोध आदिकी ही मुख्यता रही है, वह यदि रजोगुणके बढ़नेपर मरता है, तो वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी विशेषरूपसे आसुरी सम्पत्तिवाला ही होगा। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यलोकमें जन्म लेनेपर भी गुणोंके तारतम्यसे मनुष्योंके तीन प्रकार हो जाते हैं अर्थात् तीन प्रकारके स्वभाववाले मनुष्य हो जाते हैं। परन्तु इसमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि रजोगुणकी वृद्धिपर मरकर मनुष्य बननेवाले प्राणी कैसे ही आचरणोंवाले क्यों न हों, उन सबमें भगवत्प्रदत्त विवेक रहता ही है। अतः प्रत्येक मनुष्य इस विवेकको महत्त्व देकर; सत्संग, स्वाध्याय आदिसे इस विवेकको स्वच्छ करके ऊँचे उठ सकते हैं, परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इस भगवत्प्रदत्त विवेकके कारण सब-के-

सब मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं।

‘तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते’—अन्त-कालमें, जिस-किसी भी मनुष्यमें, जिस-किसी कारणसे तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाता है अर्थात् तमोगुणकी प्रमाद, मोह, अप्रकाश आदि वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं और उन वृत्तियोंका चिन्तन करते हुए ही वह मरता है, तो वह मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि मूढयोनियोंमें जन्म लेता है। इन मूढयोनियोंमें मूढ़ता तो सबमें रहती है, पर वह न्यूनाधिकरूपसे रहती है; जैसे—वृक्ष, लता आदि योनियोंमें जितनी अधिक मूढ़ता होती है, उतनी मूढ़ता पशु, पक्षी आदि योनियोंमें नहीं होती।

अच्छे काम करनेवाला मनुष्य यदि अन्तसमयमें तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरकर मूढयोनियोंमें भी चला जाय, तो वहाँ भी उसके गुण, आचरण अच्छे ही होंगे, उसका स्वभाव अच्छे काम करनेका ही होगा। जैसे, भरत मुनिका अन्तसमयमें तमोगुणकी वृत्तिमें अर्थात् हरिणके चिन्तनमें शरीर छूटा, तो वे मूढयोनिवाले हरिण बन गये। परन्तु उनका मनुष्यजन्ममें किया हुआ त्याग, तप हरिणके जन्ममें भी वैसा ही बना रहा। वे हरिणयोनियोंमें भी अपनी माताके साथ नहीं रहे, हरे पत्ते न खाकर सूखे पत्ते ही खाते रहे, आदि। ऐसी सावधानी मनुष्योंमें भी बहुत कम होती है, जो कि भरत मुनिकी हरिणजन्ममें थी।

परिशिष्ट भाव—रजोगुणमें ‘राग’-अंश ही बाँधनेवाला, जन्म-मरण देनेवाला है, ‘क्रिया’-अंश नहीं। राग होनेके कारण ही ‘कर्मसंगिषु जायते’ कहा है। क्रियारूपसे रजोगुण तो गुणातीतमें भी होता है—‘प्रकाशं च प्रवृत्तिं च’ (गीता १४। २२)। पदार्थ, क्रिया अथवा व्यक्ति—किसीमें भी राग हो जायगा तो वह कर्मसंगी मनुष्ययोनियोंमें जन्म लेगा। मनुष्य स्वाभाविक कर्मसंगी है; क्योंकि कर्म करनेका अधिकार मनुष्ययोनियोंमें ही है—‘कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके’ (गीता १५। २)।

सम्बन्ध—अन्तकालमें गुणोंके तात्कालिक बढ़नेपर मरनेवाले मनुष्योंकी ऐसी गतियाँ क्यों होती हैं—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

विवेकी पुरुषोंने—

सुकृतस्य	= शुभ	फलम्	= फल	तमसः	= तामस
कर्मणः	= कर्मका	आहुः	= कहा है,		कर्मका
तु	= तो	रजसः	= राजस कर्मका	फलम्	= फल
सात्त्विकम्	= सात्त्विक	फलम्	= फल	अज्ञानम्	= अज्ञान (मूढ़ता)
निर्मलम्	= निर्मल	दुःखम्	= दुःख (कहा है और)		(कहा है)।

व्याख्या—[वास्तवमें कर्म न सात्त्विक होते हैं, न राजस होते हैं और न तामस ही होते हैं। सभी कर्म क्रियामात्र ही होते हैं। वास्तवमें उन कर्मोंको करनेवाला कर्ता ही सात्त्विक, राजस और तामस होता है। सात्त्विक कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्म ‘सात्त्विक’, राजस कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्म ‘राजस’ और तामस कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्म ‘तामस’ कहा जाता है।]

‘कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्’—सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल, स्वच्छ, निर्विकार है। अतः सत्त्वगुणवाला कर्ता जो कर्म करेगा, वह कर्म सात्त्विक ही होगा; क्योंकि कर्म कर्ताका ही रूप होता है। इस सात्त्विक कर्मके फलरूपमें जो परिस्थिति बनेगी, वह भी वैसे ही शुद्ध, निर्मल, सुखदायी होगी।

फलेच्छरहित होकर कर्म करनेपर भी जबतक सत्त्व-गुणके साथ कर्ताका सम्बन्ध रहता है, तबतक उसकी ‘सात्त्विक कर्ता’ संज्ञा होती है और तभीतक उसके कर्मोंका फल बनता है। परन्तु जब गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उसकी ‘सात्त्विक कर्ता’ संज्ञा नहीं होती और उसके द्वारा किये हुए कर्मोंका फल भी नहीं बनता, प्रत्युत उसके द्वारा किये हुए कर्म अकर्म हो जाते हैं।

‘रजसस्तु फलं दुःखम्’—रजोगुणका स्वरूप रागात्मक है। अतः रागवाले कर्ताके द्वारा जो कर्म होगा, वह कर्म भी राजस ही होगा और उस राजस कर्मका फल भोग होगा। तात्पर्य है कि उस राजस कर्मसे पदार्थोंका भोग होगा, शरीरमें सुख-आराम आदिका भोग होगा, संसारमें

आदर-सत्कार आदिका भोग होगा, और मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंके भोगोंकी प्राप्ति होगी। परन्तु ये जितने भी सम्बन्धजन्य भोग हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके ही कारण हैं—‘ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते’ (गीता ५।२२) अर्थात् जन्म-मरण देनेवाले हैं। इसी दृष्टिसे भगवान्ने यहाँ राजस कर्मका फल दुःख कहा है।

रजोगुणसे दो चीजें पैदा होती हैं—पाप और दुःख। रजोगुणी मनुष्य वर्तमानमें पाप करता है और परिणाममें उन पापोंका फल दुःख भोगता है। तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके द्वारा ‘मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है?’ ऐसा पूछनेपर उत्तरमें भगवान्ने रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाली कामनाको ही पाप करानेमें हेतु बताया है!

‘अज्ञानं तमसः फलम्’— तमोगुणका स्वरूप मोहनात्मक है। अतः मोहवाला तामस कर्ता परिणाम, हिंसा, हानि और सामर्थ्यको न देखकर मूढ़तापूर्वक जो कुछ कर्म करेगा, वह कर्म तामस ही होगा और उस तामस कर्मका फल अज्ञान अर्थात् अज्ञानबहुल योनियोंकी प्राप्ति ही होगा। उस कर्मके अनुसार उसका पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, पहाड़ आदि मूढ़योनियोंमें जन्म होगा, जिनमें अज्ञान-(मूढ़ता-) की मुख्यता रहती है।

इस श्लोकका निष्कर्ष यह निकला कि सात्त्विक

परिशिष्ट भाव—रजोगुणका स्वरूप राग है और उस रागके कारण ही दुःख होता है—‘रजसस्तु फलं दुःखम्’। संसारके सभी दुःख और पाप रागके कारण ही होते हैं। रागके कारण ही काम पैदा होता है—‘काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः’ (गीता ३।३७)।

‘अज्ञानं तमसः फलम्’—तमोगुण ज्ञान, प्रकाश, विवेक नहीं होने देता; क्योंकि तमोगुण अज्ञानको उत्पन्न करनेवाला और अज्ञानसे ही उत्पन्न होनेवाला है (इसी अध्यायका आठवाँ और सत्रहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने गुणोंकी तात्कालिक वृत्तियोंके बढ़नेपर जो गतियाँ होती हैं उनके मूलमें सात्त्विक, राजस और तामस कर्म बताये। अब सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके मूलमें गुणोंको बतानेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वात् = सत्त्वगुणसे
ज्ञानम् = ज्ञान
च = और
रजसः = रजोगुणसे
लोभः = लोभ (आदि)

एव = ही
सञ्जायते = उत्पन्न होते हैं।
तमसः = तमोगुणसे
प्रमादमोहौ = प्रमाद, मोह
च = एवं

अज्ञानम् = अज्ञान
एव = भी
भवतः = उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—‘सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्’—सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है अर्थात् सुकृत-दुष्कृत कर्मोंका विवेक जाग्रत होता

पुरुषके सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाय, पर उसमें उसको दुःख नहीं हो सकता। राजस पुरुषके सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाय, पर उसमें उसको सुख नहीं हो सकता। तामस पुरुषके सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाय, पर उसमें उसका विवेक जाग्रत नहीं हो सकता, प्रत्युत उसमें उसकी मूढ़ता ही रहेगी।

गुण (भाव) और परिस्थिति तो कर्मोंके अनुसार ही बनती है। जबतक गुण (भाव) और कर्मोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें सुखी नहीं हो सकता। जब गुण और कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें कभी दुःखी नहीं हो सकता और बन्धनमें भी नहीं पड़ सकता।

जन्मके होनेमें अन्तकालीन चिन्तन ही मुख्य होता है और अन्तकालीन चिन्तनके मूलमें गुणोंका बढ़ना होता है तथा गुणोंका बढ़ना कर्मोंके अनुसार होता है। तात्पर्य है कि मनुष्यका जैसा भाव (गुण) होगा, वैसा वह कर्म करेगा और जैसा कर्म करेगा, वैसा भाव दृढ़ होगा तथा उस भावके अनुसार अन्तिम चिन्तन होगा। अतः आगे जन्म होनेमें अन्तकालीन चिन्तन ही मुख्य रहा। चिन्तनके मूलमें भाव और भावके मूलमें कर्म रहता है। इस दृष्टिसे गतिके होनेमें अन्तिम चिन्तन, भाव (गुण) और कर्म—ये तीनों कारण हैं।

है। उस विवेकसे मनुष्य सुकृत, सत्कर्म ही करता है। उन सुकृत कर्मोंका फल सात्त्विक, निर्मल होता है।

‘रजसो लोभ एव च’—रजोगुणसे लोभ आदि पैदा होते हैं। लोभको लेकर मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मोंका फल दुःख होता है।

जितना मिला है, उसकी वृद्धि चाहनेका नाम लोभ है। लोभके दो रूप हैं—उचित खर्च न करना और अनुचित रीतिसे संग्रह करना। उचित कामोंमें धन खर्च न करनेसे, उससे जी चुरानेसे मनुष्यके मनमें अशान्ति, हलचल रहती है और अनुचित रीतिसे अर्थात् झूठ, कपट आदिसे धनका संग्रह करनेसे पाप बनते हैं, जिससे नरकोंमें तथा चौरासी लाख योनियोंमें दुःख भोगना पड़ता है। इस दृष्टिसे राजस कर्मोंका फल दुःख होता है।

‘प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च’— तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान पैदा होता है। इन तीनोंके बुद्धिमें आनेसे विवेक-विरुद्ध काम होते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक), जिससे अज्ञान ही बढ़ता है, दृढ़ होता है।

यहाँ तो तमोगुणसे अज्ञानका पैदा होना बताया है और इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें अज्ञानसे तमोगुणका पैदा होना बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्षसे बीज पैदा होते हैं और उन बीजोंसे आगे बहुत-से वृक्ष पैदा होते हैं, ऐसे ही तमोगुणसे अज्ञान पैदा होता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है, पुष्ट होता है।

पहले आठवें श्लोकमें भगवान्ने प्रमाद, आलस्य और निद्रा—ये तीन बताये। परन्तु तेरहवें श्लोकमें और यहाँ प्रमाद तो बताया, पर निद्रा नहीं बताया। इससे यह सिद्ध होता है कि आवश्यक निद्रा तमोगुणी नहीं है और निषिद्ध भी नहीं है तथा बाँधनेवाली भी नहीं है। कारण कि शरीरके लिये आवश्यक निद्रा तो सात्त्विक पुरुषको भी आती है और गुणातीत पुरुषको भी! वास्तवमें अधिक निद्रा ही बाँधनेवाली, निषिद्ध और तमोगुणी है; क्योंकि अधिक निद्रासे शरीरमें आलस्य बढ़ता है, पड़े रहनेका ही मन करता है, बहुत समय बरबाद हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—ज्ञान (विवेक) सत्त्वगुणसे प्रकट होता है और संग न करनेपर बढ़ते-बढ़ते तत्त्वबोधतक चला जाता है अर्थात् तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। परन्तु लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई मूढयोनि बाकी नहीं रहती, कोई नरक बाकी नहीं रहता।

सम्बन्ध—तात्कालिक गुणोंके बढ़नेपर मरनेवालोंकी गतिका वर्णन तो चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें कर दिया; परन्तु जिनके जीवनमें सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुणकी प्रधानता रहती है, उनकी (मरनेपर) क्या गति होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

विशेष बात

यह जीव साक्षात् परमात्माका अंश होते हुए भी जब प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब इसका प्रकृतिजन्य गुणोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। फिर गुणोंके अनुसार उसके अन्तःकरणमें वृत्तियाँ पैदा होती हैं। उन वृत्तियोंके अनुसार कर्म होते हैं और इन्हीं कर्मोंका फल ऊँच-नीच गतियाँ होती हैं। तात्पर्य है कि जीवित-अवस्थामें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं और मरनेके बाद ऊँच-नीच गतियाँ होती हैं। वास्तवमें उन कर्मोंके मूलमें भी गुणोंकी वृत्तियाँ ही होती हैं, जो कि पुनर्जन्मके होनेमें खास कारण हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि गुणोंका संग कर्मोंसे कमजोर नहीं है। जैसे कर्म शुभ-अशुभ फल देते हैं, ऐसे ही गुणोंका संग भी शुभ-अशुभ फल देता है (गीता—आठवें अध्यायका छठा श्लोक)। इसीलिये पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें पहले चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें गुणोंकी तात्कालिक वृत्तियोंके बढ़नेका फल बताया और जीवित-अवस्थामें जो परिस्थितियाँ आती हैं, उनको सोलहवें श्लोकमें बताया तथा आगे अठारहवें श्लोकमें गुणोंकी स्थायी वृत्तियोंका फल बतायेंगे। अतः वृत्तियों और कर्मोंके होनेमें गुण ही मुख्य हैं। इस पूरे प्रकरणमें गुणोंकी मुख्य बात इसी (सत्रहवें) श्लोकमें कही गयी है।

जिसका उद्देश्य संसार नहीं है, प्रत्युत परमात्मा है, वह साधारण मनुष्योंकी तरह प्रकृतिमें स्थित नहीं है। अतः उसमें प्रकृतिजन्य गुणोंकी परवशता नहीं रहती और साधन करते-करते आगे चलकर जब अहंता परिवर्तित होकर लक्ष्यकी दृढ़ता हो जाती है, तब उसको अपने स्वतःसिद्ध गुणातीत स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इसीका नाम बोध है। इस बोधके विषयमें भगवान्ने इस अध्यायका पहला-दूसरा श्लोक कहा और गुणातीतके विषयमें बाईसवेंसे छब्बीसवेंतकके पाँच श्लोक कहे। इस तरह यह पूरा अध्याय गुणोंसे अतीत स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव करनेके लिये ही कहा गया है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सत्त्वस्थाः	= सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य	मध्ये	= मृत्युलोकमें	वृत्तिमें
ऊर्ध्वम्	= ऊर्ध्वलोकोंमें	तिष्ठन्ति	= जन्म लेते हैं (और)	स्थित
गच्छन्ति	= जाते हैं,	जघन्यगुण-		तामसाः
राजसाः	= रजोगुणमें स्थित मनुष्य	वृत्तिस्थाः	= निन्दनीय तमोगुणकी	= तामस मनुष्य
				अधः
				= अधोगतिमें
				गच्छन्ति
				= जाते हैं ।

व्याख्या—‘ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः’—जिनके जीवनमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रही है और उसके कारण जिन्होंने भोगोंसे संयम किया है; तीर्थ, व्रत, दान आदि शुभ-कर्म किये हैं; दूसरोंके सुख-आरामके लिये प्याऊ, अन्नक्षेत्र आदि चलाये हैं; सड़कें बनवायी हैं; पशु-पक्षियोंकी सुख-सुविधाके लिये पेड़-पौधे लगाये हैं; गौशालाएँ बनवायी हैं, उन मनुष्योंको यहाँ ‘सत्त्वस्थाः’ कहा गया है। जब सत्त्वगुणकी प्रधानतामें ही ऐसे मनुष्योंका शरीर छूट जाता है, तब वे सत्त्वगुणका संग होनेसे, सत्त्वगुणमें आसक्ति होनेसे स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें चले जाते हैं। उन लोकोंका वर्णन इस अध्यायके चौदहवें श्लोकमें ‘उत्तमविदां अमलान् लोकान्’ पदोंसे किया गया है। ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवाले मनुष्योंको तेजस्तत्त्वप्रधान शरीरकी प्राप्ति होती है।

‘मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः’—जिन मनुष्योंके जीवनमें रजोगुणकी प्रधानता होती है और उसके कारण जो शास्त्रकी मर्यादामें रहते हुए ही संग्रह करना और भोग भोगना; ऐश-आराम करना; पदार्थोंमें ममता, आसक्ति रखना आदिमें लगे रहते हैं, उनको यहाँ ‘राजसाः’ कहा गया है। जब रजोगुणकी प्रधानतामें ही अर्थात् रजोगुणके कार्यके चिन्तनमें ही ऐसे मनुष्योंका शरीर छूट जाता है, तब वे पुनः इस मृत्युलोकमें ही जन्म लेते हैं। यहाँ उनको पृथ्वीतत्त्वप्रधान मनुष्यशरीरकी प्राप्ति होती है।

यहाँ ‘तिष्ठन्ति’ पद देनेका तात्पर्य है कि वे राजस मनुष्य अभी जैसे इस मृत्युलोकमें हैं, मरनेके बाद वे पुनः मृत्युलोकमें आकर ऐसे ही बन जाते हैं अर्थात् जैसे पहले थे, वैसे ही बन जाते हैं। वे अशुद्ध आचरण नहीं करते, शास्त्रकी मर्यादा भंग नहीं करते, प्रत्युत शास्त्रकी मर्यादाओं ही रहते हैं और शुद्ध आचरण करते हैं; परन्तु पदार्थों, व्यक्तियों आदिमें राग, आसक्ति, ममता रहनेके कारण वे पुनः मृत्युलोकमें ही जन्म लेते हैं।

‘जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः’—जिन मनुष्योंके जीवनमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है और उसके कारण जिन्होंने प्रमाद आदिके वशमें होकर निरर्थक पैसा और समय बरबाद किया है; जो आलस्य तथा नींदमें ही पड़े रहे हैं; आवश्यक कार्योंको भी जिन्होंने समयपर नहीं किया है; जो दूसरोंका अहित ही सोचते आये हैं; जिन्होंने दूसरोंका अहित किया है, दूसरोंको दुःख दिया है; जिन्होंने झूठ, कपट, चोरी, डकैती आदि निन्दनीय कर्म किये हैं, ऐसे मनुष्योंको यहाँ ‘जघन्यगुणवृत्तिस्थाः’ कहा गया है। जब तमोगुणकी प्रधानतामें ही अर्थात् तमोगुणके कार्यके चिन्तनमें ही ऐसे मनुष्य मर जाते हैं, तब वे अधोगतिमें चले जाते हैं।

अधोगतिके दो भेद हैं—योनिविशेष और स्थान-विशेष। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, साँप, बिच्छू, भूत-प्रेत आदि ‘योनिविशेष’ अधोगति है और वैतरिणी, असिपत्र, लालाभक्ष, कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव आदि नरकके कुण्ड ‘स्थानविशेष’ अधोगति है। जिनके जीवनमें सत्त्वगुण अथवा रजोगुण रहते हुए भी अन्तसमयमें तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाता है, वे मनुष्य मरनेके बाद ‘योनिविशेष’ अधोगतिमें अर्थात् मूढयोनियोंमें चले जाते हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। जिनके जीवनमें तमोगुणकी प्रधानता रही है और उसी तमोगुणकी प्रधानतामें जिनका शरीर छूट जाता है, वे मनुष्य मरनेके बाद ‘स्थानविशेष’ अधोगतिमें अर्थात् नरकोंमें चले जाते हैं (गीता—सोलहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि सात्त्विक, राजस अथवा तामस मनुष्यका अन्तिम चिन्तन और हो जानेसे उनकी गति तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार ही होगी, पर सुख-दुःखका भोग उनके कर्मोंके अनुसार ही होगा। जैसे—कर्म तो अच्छे हैं, पर अन्तिम चिन्तन कुत्तेका हो गया, तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह कुत्ता बन जायगा; परन्तु उस योनिमें भी उसको

कर्मोंके अनुसार बहुत सुख-आराम मिलेगा। कर्म तो बुरे हैं, पर अन्तिम चिन्तन मनुष्य आदिका हो गया, तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह मनुष्य बन जायगा; परन्तु उसको कर्मोंके फलरूपमें भयंकर परिस्थिति मिलेगी। उसके शरीरमें रोग-ही-रोग रहेंगे। खानेके लिये अन्न, पीनेके लिये जल और पहननेके लिये कपड़ा भी कठिनाईसे मिलेगा।

सात्त्विक गुणको बढ़ानेके लिये साधक सत्-शास्त्रोंके पढ़नेमें लगा रहे। खाना-पीना भी सात्त्विक करे, राजस-तामस खान-पान न करे। सात्त्विक श्रेष्ठ मनुष्योंका ही संग करे, उन्हींके सान्निध्यमें रहे, उनके कहे अनुसार साधन करे। शुद्ध, पवित्र तीर्थ आदि स्थानोंका सेवन करे; जहाँ कोलाहल होता हो, ऐसे राजस स्थानोंका और जहाँ अण्डा, माँस, मदिरा बिकती हो, ऐसे तामस स्थानोंका सेवन न करे। प्रातःकाल और सायंकालका समय सात्त्विक माना जाता है; अतः इस सात्त्विक समयका विशेषतासे सदुपयोग करे अर्थात् इसे भजन, ध्यान आदिमें लगाये। शास्त्रविहित शुभ-कर्म ही करे, निषिद्ध कर्म कभी न करे; राजस-तामस कर्म कभी न करे। जो जिस वर्ण, आश्रममें स्थित है, उसीमें अपने-अपने कर्तव्यका ठीक तरहसे पालन करे। ध्यान भगवान्का ही करे। मन्त्र भी सात्त्विक ही जपे। इस प्रकार सब कुछ सात्त्विक करनेसे पुराने संस्कार मिट जाते हैं और सात्त्विक संस्कार (सत्त्वगुण) बढ़ जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें गुणोंको बढ़ानेवाले दस हेतु बताये गये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।

ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥

(११।१३।४)

‘शास्त्र, जल (खान-पान), प्रजा (संग), स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसी हों तो रजोगुणकी और तामसी हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं।’

विशेष बात

अन्तसमयमें रजोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य मनुष्यलोकमें जन्म लेता है (इसी अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक) और रजोगुणकी प्रधानतावाला मनुष्य मरकर फिर इस मनुष्यलोकमें ही आता है (इसी अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—इन दोनों बातोंसे यही सिद्ध होता है कि इस मनुष्यलोकके सभी मनुष्य रजोगुणवाले ही होते हैं; सत्त्वगुण और तमोगुण इनमें नहीं होता। अगर

वास्तवमें ऐसी ही बात है, तो फिर सत्त्वगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला (इसी अध्यायका चौदहवाँ श्लोक) और सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाला मनुष्य ऊँचे लोकोंमें जाता है (इसी अध्यायका अठारहवाँ श्लोक); तथा तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला (इसी अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक) और तमोगुणमें स्थित रहनेवाला मनुष्य अधोगतिमें जाता है (इसी अध्यायका अठारहवाँ श्लोक); सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं (इसी अध्यायका पाँचवाँ श्लोक); यह सारा संसार तीनों गुणोंसे मोहित है (सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक); सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन प्रकारके कर्ता कहे जाते हैं (अठारहवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोक तक); यह सम्पूर्ण त्रिलोकी त्रिगुणात्मक है (अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), आदि बातें भगवान्ने कैसे कही हैं?

इस शंकाका समाधान यह है कि ऊर्ध्वगतिमें सत्त्वगुणकी प्रधानता तो है, पर साथमें रजोगुण-तमोगुण भी रहते हैं। इसलिये देवताओंके भी सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव होते हैं। अतः सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेपर भी उसमें अवान्तर भेद रहते हैं। ऐसे ही मध्यगतिमें रजोगुणकी प्रधानता होनेपर भी साथमें सत्त्वगुण-तमोगुण रहते हैं। इसलिये मनुष्योंके भी सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव होते हैं। अधोगतिमें तमोगुणकी प्रधानता है, पर साथमें सत्त्वगुण-रजोगुण भी रहते हैं। इसलिये पशु, पक्षी आदिमें तथा भूत, प्रेत, गुह्यक आदिमें और नरकोंके प्राणियोंमें भी भिन्न-भिन्न स्वभाव होता है। कई सौम्य स्वभावके होते हैं, कई मध्यम स्वभावके होते हैं और कई क्रूर स्वभावके होते हैं। तात्पर्य है कि जहाँ किसी भी गुणके साथ सम्बन्ध है, वहाँ तीनों गुण रहेंगे ही। इसलिये भगवान्ने (अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें) कहा है कि त्रिलोकीमें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो तीनों गुणोंसे रहित हो।

ऊर्ध्वगतिमें सत्त्वगुणकी प्रधानता, रजोगुणकी गौणता और तमोगुणकी अत्यन्त गौणता रहती है। मध्यगतिमें रजोगुणकी प्रधानता, सत्त्वगुणकी गौणता और तमोगुणकी अत्यन्त गौणता रहती है। अधोगतिमें तमोगुणकी प्रधानता, रजोगुणकी गौणता और सत्त्वगुणकी अत्यन्त गौणता रहती है। तात्पर्य है कि सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी प्रधानतावालोंमें भी अधिक, मध्यम और कनिष्ठमात्रामें प्रत्येक गुण रहता है। इस तरह गुणोंके सैकड़ों-हजारों

सूक्ष्म भेद हो जाते हैं। अतः गुणोंके तारतम्यसे प्रत्येक प्राणीका अलग-अलग स्वभाव होता है।

जैसे भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस और तामस कार्य होते हुए भी वे गुणातीत ही रहते हैं (सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), ऐसे ही गुणातीत महापुरुषके

अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियोंके आनेपर भी वह गुणातीत ही रहता है (चौदहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। अतः भगवान्की उपासना करना और गुणातीत महापुरुषका संग करना— ये दोनों ही निर्गुण होनेसे साधकको गुणातीत करनेवाले हैं।

परिशिष्ट भाव—तमोगुण थोड़ा बढ़नेपर मनुष्य मूढ़ योनियोंमें जाता है और ज्यादा बढ़नेपर नरकोंमें जाता है।

सम्बन्ध—पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रकृतिके कार्य गुणोंका परिचय देकर अब आगेके दो श्लोकोंमें स्वयंको तीनों गुणोंसे अतीत अनुभव करनेका वर्णन करते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

यदा	= जब	कर्तारम्	= कर्ता	वेत्ति	= अनुभव करता है,
द्रष्टा	= विवेकी (विचार-कुशल) मनुष्य	न	= नहीं		(तब)
गुणेभ्यः	= तीनों गुणोंके (सिवाय)	अनुपश्यति	= देखता	सः	= वह
अन्यम्	= अन्य किसीको	च	= और (अपनेको)	मद्भावं	= मेरे सत्स्वरूपको
		गुणेभ्यः	= गुणोंसे	अधिगच्छति	= प्राप्त हो
		परम्	= पर		जाता है।

व्याख्या—‘नान्यं गुणेभ्यः मद्भावं सोऽधिगच्छति’—गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंसे ही हो रही हैं, सम्पूर्ण परिवर्तन गुणोंमें ही हो रहा है। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण क्रियाओं और परिवर्तनोंमें गुण ही कारण हैं और कोई कारण नहीं है। वे गुण जिससे प्रकाशित होते हैं, वह तत्त्व गुणोंसे पर है। गुणोंसे पर होनेसे वह कभी गुणोंसे लिप्त नहीं होता अर्थात् गुणों और क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। ऐसे उस तत्त्वको जो विचार-कुशल साधक

जान लेता है अर्थात् विवेकके द्वारा अपने-आपको गुणोंसे पर, असम्बद्ध, निर्लिप्त अनुभव कर लेता है कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध न कभी हुआ है, न है, न होगा और न हो ही सकता है। कारण कि गुण परिवर्तनशील हैं और स्वयंमें कभी परिवर्तन होता ही नहीं। वह फिर मेरे भावको, मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि वह जो भूलसे गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मानता था, वह मान्यता मिट जाती है और मेरे साथ उसका जो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है, वह ज्यों-का-ज्यों रह जाता है।

परिशिष्ट भाव—‘गुणेभ्यश्च परं वेत्ति’ का तात्पर्य है कि जिससे गुण प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाशकमें अपनी स्थितिका अनुभव करना (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

‘मद्भावं सोऽधिगच्छति’ पदोंका अर्थ है कि वह मेरे भावको अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इसी बातको दूसरे श्लोकमें ‘मम साधर्म्यमागताः’ पदोंसे कहा गया है।

विवेकी साधक गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे अर्थात् क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करता है। क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करनेपर वह योगारूढ़ हो जाता है—‘यदा हि नेन्द्रियार्थेषु.....’ (गीता ६। ४)। योगारूढ़ होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और उस शान्तिमें न अटकनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देही	= देहधारी (विवेकी मनुष्य)	त्रीन्	= तीनों	दुःखोंसे
देहसमुद्भवान्	= देहको उत्पन्न करनेवाले	गुणान्	= गुणोंका	विमुक्तः = रहित हुआ
एतान्	= इन	अतीत्य	= अतिक्रमण करके	अमृतम् = अमरताका
		जन्ममृत्युजरादुःखैः	= जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप	अश्नुते = अनुभव करता है।

व्याख्या—‘गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्’— यद्यपि विचार-कुशल मनुष्यका देहके साथ सम्बन्ध नहीं होता, तथापि लोगोंकी दृष्टिमें देहवाला होनेसे उसको यहाँ ‘देही’ कहा गया है।

देहको उत्पन्न करनेवाले गुण ही हैं। जिस गुणके साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, उसके अनुसार उसको ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेना ही पड़ता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

अभी इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक जिनका वर्णन हुआ है, उन्हीं तीनों गुणोंके लिये यहाँ ‘एतान् त्रीन् गुणान्’ पद आये हैं। विचार-कुशल मनुष्य इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् इनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इनके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग कर देता है। कारण कि उसको यह स्पष्ट विवेक हो जाता है कि सभी गुण परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं और अपना स्वरूप गुणोंसे कभी लिप्त हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। ध्यान देनेकी बात है कि जिस प्रकृतिसे ये गुण उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृतिके साथ भी स्वयंका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, फिर गुणोंके साथ तो उसका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है?

‘जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते’— जब साधक इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है, तो फिर उसको जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाका दुःख नहीं होता। वह जन्म-मृत्यु आदिके दुःखोंसे छूट जाता है; क्योंकि जन्म आदिके होनेमें गुणोंका संग ही कारण है। ये गुण आते-जाते रहते हैं; इनमें परिवर्तन होता रहता है। गुणोंकी वृत्तियाँ कभी सात्त्विकी, कभी राजसी और कभी तामसी हो जाती हैं; परन्तु स्वयंमें कभी सात्त्विकपना, राजसपना और तामसपना आता ही नहीं। स्वयं (स्वरूप) तो स्वतः असंग रहता है। इस असंग स्वरूपका कभी जन्म नहीं होता। जब जन्म

नहीं होता, तो मृत्यु भी नहीं होती। कारण कि जिसका जन्म होता है, उसीकी मृत्यु होती है तथा उसीकी वृद्धावस्था भी होती है। गुणोंका संग रहनेसे ही जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखोंका अनुभव होता है। जो गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्तताका अनुभव कर लेता है, उसको स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है।

देहसे तादात्म्य (एकता) माननेसे ही मनुष्य अपनेको मरनेवाला समझता है। देहके सम्बन्धसे होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है। मनुष्य स्वरूपसे है तो अमर ही; किन्तु भोग और संग्रहमें आसक्त होनेसे और प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले शरीरको अमर रखनेकी इच्छासे ही इसको अमरताका अनुभव नहीं होता। विवेकी मनुष्य देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अमरताका अनुभव करता है।

पूर्वश्लोकमें ‘मद्भावं सोऽधिगच्छति’ पदोंसे भगवद्भावकी प्राप्ति कही गयी एवं यहाँ ‘अमृतमश्नुते’ पदोंसे अमरताका अनुभव करनेको कहा गया—वस्तुतः दोनों एक ही बात है।

गीतामें ‘जरामरणमोक्षाय’ (७। २९), ‘जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्’ (१३। ८) और यहाँ ‘जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः’ (१४। २०)—इन तीनों जगह बाल्य और युवा-अवस्थाका नाम न लेकर ‘जरा’ (वृद्धावस्था) का ही नाम लिया गया है, जबकि शरीरमें बाल्य, युवा और वृद्ध—ये तीनों ही अवस्थाएँ होती हैं। इसका कारण यह है कि बाल्य और युवा-अवस्थामें मनुष्य अधिक दुःखका अनुभव नहीं करता; क्योंकि इन दोनों ही अवस्थाओंमें शरीरमें बल रहता है। परन्तु वृद्धावस्थामें शरीरमें बल न रहनेसे मनुष्य अधिक दुःखका अनुभव करता है। ऐसे ही जब मनुष्यके प्राण छूटते हैं, तब वह भयंकर दुःखका अनुभव करता है। परन्तु जो तीनों गुणोंका

अतिक्रमण कर जाता है, वह सदाके लिये जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

इस मनुष्यशरीरमें रहते हुए जिसको बोध हो जाता है, उसका फिर जन्म होनेका तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हाँ, उसके अपने कहलानेवाले शरीरके रहते हुए वृद्धावस्था और मृत्यु तो आयेगी ही, पर उसको वृद्धावस्था और मृत्युका दुःख नहीं होगा।

वर्तमानमें शरीरके साथ स्वयंकी एकता माननेसे ही पुनर्जन्म होता है और शरीरमें होनेवाले जरा व्याधि आदिके

दुःखोंको जीव अपनेमें मान लेता है। शरीर गुणोंके संगसे उत्पन्न होता है। देहके उत्पादक गुणोंसे रहित होनेके कारण गुणातीत महापुरुष देहके सम्बन्धसे होनेवाले सभी दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

अतः प्रत्येक मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव कर लेना चाहिये। गुणातीत होनेसे जरा, व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्ति हो जाती है और मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। फिर उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं।

परिशिष्ट भाव—मनुष्यमात्रके भीतर यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है—‘**भूतग्रामः स एवायं**’ (गीता ८। १९)। परन्तु स्वरूपसे अमर होते हुए भी जब मनुष्य अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ तादात्म्य मान लेता है अर्थात् ‘मैं शरीर हूँ’ ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि ‘मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ’, तब उसको अपनी स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। शरीरके विकारोंका, परिवर्तनका अनुभव स्वयं सदा एक रहते हुए ही करता है। अतः साधकको चाहिये कि वह विकारोंको, परिवर्तनको मुख्यता न देकर अपने होनेपनको, अपनी अमरताको मुख्यता दे।

यह श्लोक चौदहवें अध्यायका सार, निचोड़ है।

सम्बन्ध—गुणातीत पुरुष दुःखोंसे मुक्त होकर अमरताको प्राप्त कर लेता है—ऐसा सुनकर अर्जुनके मनमें गुणातीत मनुष्यके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा हुई। अतः वे आगेके श्लोकमें भगवान्से प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—

प्रभो	= हे प्रभो!	लिङ्गैः	= लक्षणोंसे	एतान्	= इन
एतान्	= इन		(युक्त)	त्रीन्	= तीनों
त्रीन्	= तीनों	भवति	= होता है ?	गुणान्	= गुणोंका
गुणान्	= गुणोंसे	किमाचारः	= उसके आचरण	कथम्,	
अतीतः	= अतीत हुआ मनुष्य		कैसे होते हैं ?	अतिवर्तते	= अतिक्रमण कैसे किया
कैः	= किन	च	= और		जा सकता है ?

व्याख्या—‘**कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो**’—हे प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो गुणोंका अतिक्रमण कर चुका है, ऐसे मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं? तात्पर्य है कि संसारी मनुष्यकी अपेक्षा गुणातीत मनुष्यमें

ऐसी कौन-सी विलक्षणता आ जाती है, जिससे साधारण व्यक्ति समझ ले कि यह गुणातीत पुरुष है ?

‘**किमाचारः**’—उस गुणातीत मनुष्यके आचरण कैसे होते हैं? अर्थात् साधारण आदमीकी जैसी दिनचर्या और

रात्रिचर्या होती है, गुणातीत मनुष्यकी वैसी ही दिनचर्या-रात्रिचर्या होती है या उससे विलक्षण होती है? साधारण आदमीके जैसे आचरण होते हैं; जैसा खान-पान, रहन-सहन, सोना-जागना होता है, गुणातीत मनुष्यके आचरण, खान-

पान आदि भी वैसे ही होते हैं या कुछ विलक्षण होते हैं? 'कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते'—इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करनेका क्या उपाय है? अर्थात् कौन-सा साधन करनेसे मनुष्य गुणातीत हो सकता है?

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नोंमेंसे पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें गुणातीत मनुष्यके लक्षणोंका वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥**

श्रीभगवान् बोले—

पाण्डव	= हे पाण्डव !	सम्प्रवृत्तानि	= (ये सभी) अच्छी	नहीं करता
प्रकाशम्	= प्रकाश		तरहसे प्रवृत्त	च = और
च	= और		हो जायँ	निवृत्तानि = (ये सभी) निवृत्त
प्रवृत्तिम्	= प्रवृत्ति	एव	= तो भी (गुणातीत	हो जायँ तो
च	= तथा		मनुष्य)	(इनकी)
मोहम्	= मोह—	न, द्वेष्टि	= इनसे द्वेष	न, काङ्क्षति = इच्छा नहीं करता।

व्याख्या—'प्रकाशं च'—इन्द्रियों और अन्तःकरणकी स्वच्छता, निर्मलताका नाम प्रकाश है। तात्पर्य है कि जिससे इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि पाँचों विषयोंका स्पष्टतया ज्ञान होता है, मनसे मनन होता है और बुद्धिसे निर्णय होता है, उसका नाम 'प्रकाश' है।

भगवान्ने पहले (ग्यारहवें श्लोकमें) सत्त्वगुणकी दो वृत्तियाँ बतायी थीं—प्रकाश और ज्ञान। उनमेंसे यहाँ केवल प्रकाश-वृत्ति लेनेका तात्पर्य है कि सत्त्वगुणमें प्रकाश-वृत्ति ही मुख्य है; क्योंकि जबतक इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें प्रकाश नहीं आता, स्वच्छता-निर्मलता नहीं आती, तबतक ज्ञान (विवेक) जाग्रत् नहीं होता। प्रकाशके आनेपर ही ज्ञान जाग्रत् होता है। अतः यहाँ ज्ञान-वृत्तिको प्रकाशके ही अन्तर्गत ले लेना चाहिये।

'प्रवृत्तिं च'—जबतक गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, रागपूर्वक कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा—ये वृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। परन्तु जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब रजोगुणके साथ तादात्म्य रखनेवाली वृत्तियाँ तो पैदा हो ही नहीं सकतीं, पर आसक्ति, कामनासे रहित प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) रहती है। यह प्रवृत्ति दोषी नहीं है। गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी क्रियाएँ होती हैं। इसलिये भगवान्ने यहाँ केवल

'प्रवृत्ति' को ही लिया है।

रजोगुणके दो रूप हैं—राग और क्रिया। इनमेंसे राग तो दुःखोंका कारण है। यह राग गुणातीतमें नहीं रहता। परन्तु जबतक गुणातीत मनुष्यका दीखनेवाला शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा निष्कामभावपूर्वक स्वतः क्रियाएँ होती रहती हैं। इसी क्रियाशीलताको भगवान्ने यहाँ 'प्रवृत्ति' नामसे कहा है।

'मोहमेव च पाण्डव'—मोह दो प्रकारका है—(१) नित्य-अनित्य, सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक न होना और (२) व्यवहारमें भूल होना। गुणातीत महापुरुषमें पहले प्रकारका मोह (सत्-असत् आदिका विवेक न होना) तो होता ही नहीं (गीता—चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)। परन्तु व्यवहारमें भूल होना अर्थात् किसीके कहनेसे किसी निर्दोष व्यक्तिको दोषी मान लेना और दोषी व्यक्तिको निर्दोष मान लेना आदि तथा रस्सीमें साँप दीख जाना, मृगतृष्णामें जल दीख जाना, सीपी और अभ्रकमें चाँदीका भ्रम हो जाना आदि मोह तो गुणातीत मनुष्यमें भी होता है।

'न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति'—सत्त्वगुणका कार्य 'प्रकाश', रजोगुणका कार्य 'प्रवृत्ति' और तमोगुणका कार्य 'मोह'—इन तीनोंके अच्छी तरह प्रवृत्त होनेपर भी गुणातीत महापुरुष इनसे द्वेष नहीं करता और

इनके निवृत्त होनेपर भी इनकी इच्छा नहीं करता। तात्पर्य है कि ऐसी वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न हो रही हैं, इनमेंसे कोई-सी भी वृत्ति न रहे'—ऐसा द्वेष नहीं करता और 'ये वृत्तियाँ पुनः आ जायँ; ये वृत्तियाँ बनी रहें'—ऐसा राग नहीं करता। गुणातीत होनेके कारण गुणोंकी वृत्तियोंके आने-जानेसे उसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। वह इन वृत्तियोंसे स्वाभाविक ही निर्लिप्त रहता है।

विशेष बात

एक तो वृत्तियोंका 'होना' होता है और एक वृत्तियोंको 'करना' (उनसे सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् राग-द्वेष करना) होता है। होने और करनेमें बड़ा अन्तर है। 'होना' समष्टिगत होता है और 'करना' व्यक्तिगत होता है। संसारमें जो 'होता' है, उसकी जिम्मेवारी हमारेपर नहीं होती। जो हम 'करते' हैं, उसीकी जिम्मेवारी हमारेपर होती है।

जिस समष्टि शक्तिसे संसारमात्रका संचालन होता है, उसी शक्तिसे हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—(जो कि संसारके ही अंश हैं—) का भी संचालन होता है। जब संसारमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें नहीं लगते, तब शरीरादिमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें लग ही कैसे सकते हैं? परन्तु जब स्वतः होनेवाली क्रियाओंमेंसे कुछ क्रियाओंके साथ मनुष्य राग-द्वेषपूर्वक अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् उनका कर्ता बन जाता है, तब उनका फल उसको ही भोगना पड़ता है। इसलिये अन्तःकरणमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होनेवाली अच्छी-बुरी वृत्तियोंसे साधकको राग-द्वेष नहीं करना चाहिये अर्थात् उनसे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्तःकरणमें भी होती हैं, पर उसका उन वृत्तियोंसे राग-द्वेष नहीं होता। वृत्तियाँ आप-से-आप आती और चली जाती हैं। गुणातीत

महापुरुषकी दृष्टि उधर जाती ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय और कुछ रहता ही नहीं।

देखना और दीखना—दोनोंमें बड़ा फरक है। देखना 'करने' के अन्तर्गत होता है और दीखना 'होने'के अन्तर्गत होता है। दोष देखनेमें होता है, दीखनेमें नहीं। अतः साधकको यदि अन्तःकरणमें खराब-से-खराब वृत्ति भी दीख जाय, तो भी उसको घबराना नहीं चाहिये। अपने-आप दीखनेवाली (होनेवाली) वृत्तियोंसे राग-द्वेष करना अर्थात् उनके अनुसार अपनी स्थिति मानना ही उनको देखना है। साधकसे भूल यही होती है कि वह दीखनेवाली वस्तुको देखने लग जाता है और फँस जाता है। भगवान् राम कहते हैं—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।

गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥

(मानस ७। ४१)

साधकको गहराईसे विचार करना चाहिये कि वृत्तियाँ तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं, पर स्वयं (अपना स्वरूप) सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। वृत्तियोंमें होनेवाले परिवर्तनको देखनेवाला स्वरूप परिवर्तनरहित है। कारण कि परिवर्तनशीलको परिवर्तनशील नहीं देख सकता, प्रत्युत परिवर्तनरहित ही परिवर्तनशीलको देख सकता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वरूप वृत्तियोंसे अलग है। परिवर्तनशील गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ अपनेमें प्रतीत होती हैं। अतः साधकको आने-जानेवाली वृत्तियोंके साथ मिलकर अपने वास्तविक स्वरूपसे विचलित नहीं होना चाहिये। चाहे जैसी वृत्तियाँ आयें, उनसे राजी-नाराज नहीं होना चाहिये; उनके साथ अपनी एकता नहीं माननी चाहिये। सदा एकरस रहनेवाले गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्त, निर्विकार एवं अविनाशी अपने स्वरूपको न देखकर परिवर्तनशील, विकारी एवं विनाशी वृत्तियोंको देखना साधकके लिये महान् बाधक है।

परिशिष्ट भाव—गुणातीत मनुष्यमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता चली जाय' ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका अनुभव होनेपर उसको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्तःकरणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। साधकपर भी वृत्तियोंका असर नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि गुणातीत मनुष्य साधकका आदर्श होता है, साधक उसका अनुयायी होता है।

साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह देहका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्तःकरणमें हैं, अपनेमें नहीं हैं। अतः साधक वृत्तियोंको न अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। कारण कि वृत्तियाँ तो आने-जानेवाली हैं, पर स्वयं निरन्तर रहनेवाला है। अगर वृत्तियाँ हमारेमें होतीं तो जबतक हम रहते, तबतक वृत्तियाँ भी रहतीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। वृत्तियोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध परमात्माके साथ है। इसलिये वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव करनेवाला स्वयं एक ही रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

यः	= जो	(तथा)	यः	= जो (अपने स्वरूपमें ही)	
उदासीनवत्	= उदासीनकी तरह	गुणाः	= गुण		
आसीनः	= स्थित है (और)	एव	= ही	अवतिष्ठति	= स्थित रहता है
गुणैः	= (जो) गुणोंके द्वारा		(गुणोंमें)		(और स्वयं कोई भी)
न, विचाल्यते	= विचलित नहीं किया जा सकता	वर्तन्ते	= बरत रहे हैं—	न, इङ्गते	= चेष्टा नहीं करता ।
		इति	= इस भावसे		

व्याख्या—‘उदासीनवदासीनः’—दो व्यक्ति परस्पर विवाद करते हों, तो उन दोनोंमेंसे किसी एकका पक्ष लेनेवाला ‘पक्षपाती’ कहलाता है और दोनोंका न्याय करनेवाला ‘मध्यस्थ’ कहलाता है। परन्तु जो उन दोनोंको देखता तो है, पर न तो किसीका पक्ष लेता है और न किसीसे कुछ कहता ही है, वह ‘उदासीन’ कहलाता है। ऐसे ही संसार और परमात्मा—दोनोंको देखनेसे गुणातीत मनुष्य उदासीनकी तरह दीखता है।

वास्तवमें देखा जाय तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। सत्-स्वरूप परमात्माकी सत्तासे ही संसार सत्तावाला दीख रहा है। अतः जब गुणातीत मनुष्यकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है ही नहीं, केवल एक परमात्माकी सत्ता ही है, तो फिर वह उदासीन किससे हो ? परन्तु जिनकी दृष्टिमें संसार और परमात्माकी सत्ता है, ऐसे लोगोंकी दृष्टिमें वह गुणातीत मनुष्य उदासीनकी तरह दीखता है।

‘गुणैर्यो न विचाल्यते’—उसके कहलानेवाले अन्तःकरणमें सत्त्व, रज, और तम—इन गुणोंकी वृत्तियाँ तो आती हैं, पर वह इनसे विचलित नहीं होता। तात्पर्य है कि जैसे अपने सिवाय दूसरोंके अन्तःकरणमें गुणोंकी वृत्तियाँ आनेपर अपनेमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता, ऐसे

ही उसके कहलानेवाले अन्तःकरणमें गुणोंकी वृत्तियाँ आनेपर उसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता अर्थात् वह उन वृत्तियोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। कारण कि उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारका अत्यन्त अभाव एवं परमात्मतत्त्वका भाव निरन्तर स्वतः—स्वाभाविक जाग्रत् रहता है।

‘गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति’—गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता—तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक) अर्थात् गुणोंमें ही सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं—ऐसा समझकर वह अपने स्वरूपमें निर्विकाररूपसे स्थित रहता है।

‘न इङ्गते’—पहले ‘गुणा वर्तन्त इत्येव’ पदोंसे उसका गुणोंके साथ सम्बन्धका निषेध किया, अब ‘न इङ्गते’ पदोंसे उसमें क्रियाओंका अभाव बताते हैं। तात्पर्य है कि गुणातीत पुरुष खुद कुछ भी चेष्टा नहीं करता। कारण कि अविनाशी शुद्ध स्वरूपमें कभी कोई क्रिया होती ही नहीं।

[बाईसवें और तेईसवें—इन दो श्लोकोंमें भगवान् ने गुणातीत महापुरुषकी तटस्थता, निर्लिप्तताका वर्णन किया है।]

परिशिष्ट भाव—‘न विचाल्यते’, ‘अवतिष्ठति’ और ‘नेङ्गते’—ये तीनों पद वास्तवमें एक ही अर्थ रखते हैं। फिर भी ये तीनों पद देनेका तात्पर्य है कि गुणातीत महापुरुष स्वतः—स्वाभाविक अचल (स्थिरतामें) रहता है। वह न तो स्वयं विचलित होता है और न किसीसे विचलित किया जा सकता है।

‘करना’, ‘होना’ और ‘है’—ये तीन विभाग हैं। ‘करना’ होनेमें और ‘होना’ ‘है’ में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा असाधक (संसारी मनुष्य) मानता है कि ‘मैं क्रिया कर रहा हूँ’—‘अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते’ (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसको भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक अनुभव करता है कि ‘क्रिया हो रही है’—‘गुणा गुणेषु वर्तन्ते’ (गीता ३। २८) अर्थात् ‘मैं कुछ भी नहीं करता हूँ’—‘नैव किञ्चित्करोमीति’ (गीता ५। ८)। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र (‘है’) का ही अनुभव करता है—‘योऽवतिष्ठति नेङ्गते’। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता

ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है।

सम्बन्ध—इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने दूसरे प्रश्नके रूपमें गुणातीत मनुष्यके आचरण पूछे थे। उसका उत्तर अब आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं।

**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥**

धीरः	= जो धीर मनुष्य	सोनेमें सम रहता है;	मित्रारिपक्षयोः	= जो मित्र-शत्रुके पक्षमें	
समदुःख-		तुल्यप्रियाप्रियः	= जो प्रिय-अप्रियमें		
सुखः	= दुःख-सुखमें		सम रहता है,	तुल्यः	= सम रहता है (और)
	सम (तथा)	तुल्यनिन्दात्म-		सर्वारम्भपरित्यागी	= जो सम्पूर्ण
स्वस्थः	= अपने स्वरूपमें	संस्तुतिः	= जो अपनी		कर्मोंके आरम्भका
	स्थित रहता है;		निन्दा-स्तुतिमें		त्यागी है,
समलोष्टाश्म-			सम रहता है;	सः	= वह मनुष्य
काञ्चनः	= जो मिट्टीके	मानापमानयोः	= जो मान-अपमानमें	गुणातीतः	= गुणातीत
	ढेले, पत्थर और	तुल्यः	= सम रहता है;	उच्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या—'धीरः, समदुःखसुखः'—नित्य-अनित्य, सार-असार आदिके तत्त्वको जानकर स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित होनेसे गुणातीत मनुष्य धैर्यवान् कहलाता है।

पूर्वकर्मोंके अनुसार आनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका नाम सुख-दुःख है अर्थात् प्रारम्भके अनुसार शरीर, इन्द्रियों आदिके अनुकूल परिस्थितिको 'सुख' कहते हैं और शरीर, इन्द्रियों आदिके प्रतिकूल परिस्थितिको 'दुःख' कहते हैं। गुणातीत मनुष्य इन दोनोंमें सम रहता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःखरूप बाह्य परिस्थितियाँ उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें विकार पैदा नहीं कर सकतीं, उसको सुखी-दुःखी नहीं कर सकतीं।

'स्वस्थः'—स्वरूपमें सुख-दुःख है ही नहीं। स्वरूपसे तो सुख-दुःख प्रकाशित होते हैं। अतः गुणातीत मनुष्य आने-जानेवाले सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत अपने नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वरूपमें स्थिर रहता है।

'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'—उसका मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णमें न तो आकर्षण (राग) होता है और न विकर्षण (द्वेष) होता है। परन्तु व्यवहारमें वह ढेलेको

ढेलेकी जगह रखता है, पत्थरको पत्थरकी जगह रखता है और स्वर्णको स्वर्णकी जगह (तिजोरी आदिमें) रखता है। तात्पर्य है कि यद्यपि उनकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसको हर्ष-शोक नहीं होते, वह सम रहता है, तथापि उनसे व्यवहार तो यथायोग्य ही करता है।

ढेले, पत्थर और स्वर्णका ज्ञान न होना समता नहीं कहलाती। समता वही है कि इन तीनोंका ज्ञान होते हुए भी इनमें राग-द्वेष न हों। ज्ञान कभी दोषी नहीं होता, विकार ही दोषी होते हैं।

'तुल्यप्रियाप्रियः'—क्रियमाण कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें अर्थात् उनके तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी वह सम रहता है।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः'—निन्दा और स्तुतिमें नामकी मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्यका नामके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता; अतः कोई निन्दा करे तो उसके चित्तमें खिन्नता नहीं होती और कोई स्तुति करे तो उसके चित्तमें प्रसन्नता नहीं होती। इसी प्रकार निन्दा करनेवालोंके प्रति उसका द्वेष नहीं होता और स्तुति करनेवालोंके प्रति उसका राग नहीं होता।

साधारण मनुष्योंकी यह एक आदत बन जाती है कि उनको अपनी निन्दा बुरी लगती है और स्तुति अच्छी लगती है। परन्तु जो गुणोंसे ऊँचे उठ जाते हैं, उनको निन्दा-स्तुतिका ज्ञान तो होता है और वे बर्ताव भी सबके साथ यथोचित ही करते हैं, पर उनमें निन्दा-स्तुतिको लेकर खिन्नता-प्रसन्नता नहीं होती। कारण कि वे जिस तत्त्वमें स्थित हैं, वहाँ गुणोंवाली परकृत निन्दा-स्तुति पहुँचती ही नहीं।

निन्दा और स्तुति—ये दोनों ही परकृत क्रियाएँ हैं। उन क्रियाओंसे राजी-नाराज होना गलती है। कारण कि जिसका जैसा स्वभाव है, जैसी धारणा है, वह उसके अनुसार ही बोलता है। वह हमारे अनुकूल ही बोले, हमारी निन्दा न करे—यह न्याय नहीं है अर्थात् उसको बोलनेमें बाध्य करनेका भाव न्याय नहीं है, अन्याय है। दूसरोंपर हमारा क्या अधिकार है कि तुम हमारी निन्दा मत करो? हमारी स्तुति ही करो? दूसरी बात, कोई निन्दा करता है तो उसमें साधकको प्रसन्न होना चाहिये कि इससे मेरे पाप कट रहे हैं, मैं शुद्ध हो रहा हूँ। अगर कोई हमारी प्रशंसा करता है, तो उससे हमारे पुण्य नष्ट होते हैं। अतः प्रशंसामें राजी नहीं होना चाहिये; क्योंकि राजी होनेमें खतरा है!

‘मानापमानयोस्तुल्यः’—मान और अपमान होनेमें शरीरकी मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्यका शरीरके साथ तादात्म्य नहीं रहता। अतः कोई उसका आदर करे या निरादर करे, मान करे या अपमान करे, इन परकृत क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं पड़ता।

निन्दा-स्तुति और मान-अपमान—इन दोनों ही परकृत क्रियाओंमें गुणातीत मनुष्य सम रहता है। इन दोनों परकृत क्रियाओंका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत निन्दा और अपमानमें दुःखी होना तथा स्तुति और मानमें हर्षित होना दोषी है; क्योंकि ये दोनों ही प्रकृतिके विकार हैं। गुणातीत पुरुषको निन्दा-स्तुति और मान-अपमानका ज्ञान तो होता है, पर गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे, नाम और शरीरके साथ तादात्म्य न रहनेसे वह सुखी-दुःखी नहीं होता। कारण कि वह जिस तत्त्वमें स्थित है, वहाँ ये विकार नहीं हैं। वह तत्त्व गुणरहित है, निर्विकार है।

‘तुल्यो मित्रारिपक्षयोः’—वह मित्र और शत्रुके पक्षमें सम रहता है। यद्यपि गुणातीत मनुष्यकी दृष्टिमें कोई मित्र और शत्रु नहीं होता, तथापि दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसे अपना मित्र अथवा शत्रु भी मान

सकते हैं। साधारण मनुष्यको भी दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार मित्र या शत्रु मान सकते हैं; किन्तु इस बातका पता लगनेपर उस मनुष्यपर इसका असर पड़ता है, जिससे उसमें राग-द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु गुणातीत मनुष्यपर इस बातका पता लगनेपर भी कोई असर नहीं पड़ता। वस्तुतः मित्र और शत्रुकी भावनाके कारण ही व्यवहारमें पक्षपात होता है। गुणातीत मनुष्यके कहलानेवाले अन्तःकरणमें मित्र-शत्रुकी भावना ही नहीं होती; अतः उसके व्यवहारमें पक्षपात नहीं होता।

एक व्यक्ति उस महापुरुषके साथ मित्रता रखता है और दूसरा व्यक्ति अपने स्वभाववश उस महापुरुषके साथ शत्रुता रखता है। जब उन दोनों व्यक्तियोंकी किसी बातको लेकर न्याय करनेका अवसर आ जाय, तब (व्यवहारमें) वह मित्रता रखनेवालेकी अपेक्षा शत्रुता रखनेवालेका कुछ अधिक पक्ष लेता है। जैसे—पदार्थादिका बँटवारा करते समय वह मित्रता रखनेवालेको कम (उतना ही, जितना वह प्रसन्नतापूर्वक सहन कर सकता हो) और शत्रुता रखने-वालोंको कुछ ज्यादा पदार्थ देता है। यह भी समता ही कहलाती है; क्योंकि अपने पक्षवालोंके साथ न्याय और विपक्षवालोंके साथ उदारता होनी चाहिये।

‘सर्वारम्भपरित्यागी’—वह महापुरुष सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी होता है। तात्पर्य है कि धन-सम्पत्तिके संग्रह और भोगोंके लिये वह किसी तरहका कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता। स्वतः प्राप्त परिस्थितिके अनुसार ही उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है अर्थात् क्रियाओंमें उसकी प्रवृत्ति कामना, वासना, ममतासे रहित होती है और निवृत्ति भी मान-बड़ाई आदिकी इच्छासे रहित होती है।

‘गुणातीतः स उच्यते’—यहाँ ‘उच्यते’ पदसे यही ध्वनि निकलती है कि उस महापुरुषकी ‘गुणातीत’ संज्ञा नहीं है; किन्तु उसके कहे जानेवाले शरीर, अन्तःकरणके लक्षणोंको लेकर ही उसको गुणातीत कहा जाता है।

वास्तवमें देखा जाय तो जो गुणातीत है, उसके लक्षण नहीं हो सकते। लक्षण तो गुणोंसे ही होते हैं; अतः जिसके लक्षण होते हैं, वह गुणातीत कैसे हो सकता है? परन्तु अर्जुनने भी गुणातीतके ही लक्षण पूछे हैं और भगवान्ने भी गुणातीतके ही लक्षण कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लोग पहले उस गुणातीतकी जिस शरीर और अन्तःकरणमें स्थिति मानते थे, उसी शरीर और अन्तःकरणके लक्षणोंको लेकर वे उसमें आरोप करते हैं कि यह गुणातीत मनुष्य है।

अतः ये लक्षण गुणातीत मनुष्यको पहचाननेके संकेत-मात्र हैं।

प्रकृतिके कार्य गुण हैं और गुणोंके कार्य शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि हैं। अतः मन-बुद्धि आदिके द्वारा अपने कारण गुणोंका भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, फिर गुणोंके भी कारण प्रकृतिका वर्णन हो ही कैसे सकता है? जो प्रकृतिसे भी सर्वथा अतीत (गुणातीत) है, उसका वर्णन करना तो उन मन-बुद्धि आदिके द्वारा सम्भव ही नहीं है। वास्तवमें गुणातीतके ये लक्षण स्वरूपमें तो होते ही नहीं; किन्तु अन्तःकरणमें मानी हुई अहंता-ममताके नष्ट हो जानेपर उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणके माध्यमसे ही ये लक्षण—गुणातीतके लक्षण कहे जाते हैं।

यहाँ भगवान्ने सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान—ये आठ परस्पर विरुद्ध नाम लिये हैं,

परिशिष्ट भाव—राग-द्वेषादि विकार न जड़में रहते हैं, न चेतनमें रहते हैं और न ये अन्तःकरणके धर्म हैं, प्रत्युत ये देहाभिमानमें रहते हैं। देहाभिमान भी वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत अविवेक-अविचारपूर्वक माना हुआ है। तात्पर्य है कि वास्तवमें विकार अपनेमें नहीं हैं, पर मनुष्य अविवेकके कारण अपनेमें मान लेता है। वह विकारोंके भाव और अभावका तथा स्वयंके भावका अनुभव तो करता है, पर इस अनुभवको महत्त्व नहीं देता। अगर वह विवेक-विचारपूर्वक अपनेमें विकारोंके अभावका अनुभव कर ले तो वह उनका भोक्ता (सुखी-दुःखी) नहीं बनेगा।

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे प्रश्नके रूपमें गुणातीत होनेका उपाय पूछा था। उसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

च	= और	माम्	= मेरा	गुणान्	= गुणोंका
यः	= जो मनुष्य	सेवते	= सेवन	समतीत्य	= अतिक्रमण करके
अव्यभिचारेण	= अव्यभिचारी		करता है,	ब्रह्मभूयाय	= ब्रह्मप्राप्तिका
भक्तियोगेन	= भक्तियोगके	सः	= वह	कल्पते	= पात्र हो
	द्वारा	एतान्	= इन		जाता है।

व्याख्या—[यद्यपि भगवान्ने इसी अध्यायके उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें गुणोंका अतिक्रमण करनेका उपाय बता दिया था, तथापि अर्जुनने इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीत होनेका उपाय पूछ लिया। इससे यह मालूम होता है कि अर्जुन उस उपायके सिवाय गुणातीत होनेके लिये दूसरा कोई उपाय जानना चाहते हैं। अतः अर्जुनको भक्तिका अधिकारी समझकर भगवान् उनको गुणातीत होनेका उपाय भक्ति बताते हैं।]

‘मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते’—इन

जिनमें साधारण आदमियोंकी तो विषमता हो ही जाती है, साधकोंकी भी कभी-कभी विषमता हो जाती है। ऐसे इन आठ कठिन स्थलोंमें जिसकी समता हो जाती है, उसके लिये अन्य सभी अवस्थाओंमें समता रखना सुगम हो जाता है। अतः यहाँ उन्हीं आठ कठिन स्थलोंका नाम लेकर भगवान् यह बताते हैं कि गुणातीत महापुरुषकी इन आठों स्थलोंमें स्वतः-स्वाभाविक समता होती है।

गुणातीत मनुष्यकी जो स्वतःसिद्ध निर्विकारता है, उसकी जो स्वाभाविक स्थिति है, उसमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके आने-जानेका कुछ भी फरक नहीं पड़ता। उसकी निर्विकारता, समता ज्यों-की-त्यों अटल रहती है। उसकी शान्ति कभी भंग नहीं होती।

[चौबीसवें और पचीसवें—इन दो श्लोकोंमें भगवान्ने गुणातीत महापुरुषकी समताका वर्णन किया है।]

पदोंमें उपासक, उपास्य और उपासना—ये तीनों आ गये हैं अर्थात् ‘यः’ पदसे उपासक, ‘माम्’ पदसे उपास्य और ‘अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते’ पदोंसे उपासना आ गयी है।

‘अव्यभिचारेण’ पदका तात्पर्य है कि दूसरे किसीका भी सहारा न हो। सांसारिक सहारा तो दूर रहा, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि योगों-(साधनों-) का भी सहारा न हो! और ‘भक्तियोगेन’ पदका तात्पर्य है कि केवल भगवान्का ही सहारा हो, आश्रय हो, आशा हो, बल हो, विश्वास हो।

इस तरह 'अव्यभिचारेण' पदसे दूसरोंका आश्रय लेनेका निषेध करके 'भक्तियोगेन' पदसे केवल भगवान्का ही आश्रय लेनेकी बात कही गयी है।

'सेवते' पदका तात्पर्य है कि अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्का भजन करे, उनकी उपासना करे, उनके शरण हो जाय, उनके अनुकूल चले।

'स गुणान्समतीत्यैतान्'—जो अनन्यभावसे केवल भगवान्के ही शरण हो जाता है, उसको गुणोंका अतिक्रमण करना नहीं पड़ता, प्रत्युत भगवान्की कृपासे उसके द्वारा स्वतः गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है (गीता—बारहवें अध्यायका छठाँ-सातवाँ श्लोक)।

'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—वह गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र (अधिकारी) हो जाता है। भगवान्ने जब यहाँ भक्तिकी बात बतायी है, तो फिर भगवान्को यहाँ ब्रह्मप्राप्तिकी बात न कहकर अपनी प्राप्तिकी बात बतानी चाहिये थी। परन्तु यहाँ ब्रह्मप्राप्तिकी बात बतानेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनने गुणातीत होने—(निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति—) का उपाय पूछा था। इसलिये भगवान्ने अपनी भक्तिको ब्रह्मप्राप्तिका उपाय बताया।

परिशिष्ट भाव—भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसको भक्ति करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं (इसी अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), ब्रह्म समग्र भगवान्का ही एक अंग है, स्वरूप है (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया गया है।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (गुणोंसे अतीत) बताया है; जैसे—'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' (११। २५। २५), 'मत्सेवायां तु निर्गुणा' (११। २५। २७) आदि। इसलिये सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम 'सगुण' नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेसे भक्त स्वतः और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसको भगवान्के समग्ररूपका भी ज्ञान हो जाता है।

सम्बन्ध—उपासना तो करे भगवान्की और पात्र बन जाय ब्रह्मप्राप्तिका—यह कैसे? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥**

दूसरी बात, शास्त्रोंमें कहा गया है कि भगवान्की उपासना करनेवालेको ज्ञानकी भूमिकाओंकी सिद्धिके लिये दूसरा कोई साधन, प्रयत्न नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसके लिये ज्ञानकी भूमिकाएँ अपने-आप सिद्ध हो जाती हैं। उसी बातको लक्ष्य करके भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करनेवालेको ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बननेके लिये दूसरा कोई साधन नहीं करना पड़ता, प्रत्युत वह अपने-आप ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है। परन्तु वह भक्त ब्रह्मप्राप्तिमें सन्तोष नहीं करता। उसका तो यही भाव रहता है कि भगवान् कैसे प्रसन्न हों? भगवान्की प्रसन्नतामें ही उसकी प्रसन्नता होती है। तात्पर्य यह निकला कि जो केवल भगवान्के ही परायण है, भगवान्में ही आकृष्ट है, उसके लिये ब्रह्मप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। हाँ, वह ब्रह्मप्राप्तिको महत्त्व दे अथवा न दे—यह बात दूसरी है, पर वह ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी स्वतः हो जाता है।

तीसरी बात, जिस तत्त्वकी प्राप्ति ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंसे होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति भक्तिसे भी होती है। साधनोंमें भेद होनेपर भी उस तत्त्वकी प्राप्तिमें कोई भेद नहीं होता।

हि	= क्योंकि	च	= तथा	सुखस्य	= सुखका
ब्रह्मणः	= ब्रह्मका	शाश्वतस्य	= शाश्वत	प्रतिष्ठा	= आश्रय
च	= और	धर्मस्य	= धर्मका	अहम्	= मैं
अव्ययस्य	= अविनाशी	च	= और		(ही हूँ)।
अमृतस्य	= अमृतका	ऐकान्तिकस्य	= ऐकान्तिक		

व्याख्या—‘ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्’—मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा, आश्रय हूँ—ऐसा कहनेका तात्पर्य ब्रह्मसे अपनी अभिन्नता बतानेमें है। जैसे जलती हुई अग्नि साकार है और काष्ठ आदिमें रहनेवाली अग्नि निराकार है—ये अग्निके दो रूप हैं, पर तत्त्वतः अग्नि एक ही है। ऐसे ही भगवान् साकार-रूपसे हैं और ब्रह्म निराकार-रूपसे है—ये दो रूप साधकोंकी उपासनाकी दृष्टिसे हैं, पर तत्त्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। जैसे भोजनमें एक सुगन्ध होती है और एक स्वाद होता है; नासिकाकी दृष्टिसे सुगन्ध होती है और रसनाकी दृष्टिसे स्वाद होता है, पर भोजन तो एक ही है। ऐसे ही ज्ञानकी दृष्टिसे ब्रह्म है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् हैं, पर तत्त्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं।

भगवान् कृष्ण अलग हैं और ब्रह्म अलग है—यह भेद नहीं है; किन्तु भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म हैं और ब्रह्म ही भगवान् कृष्ण है। गीतामें भगवान्ने अपने लिये ‘ब्रह्म’ शब्दका भी प्रयोग किया है—‘ब्रह्मण्याधाय कर्माणि’ (५। १०) और अपनेको ‘अव्यक्तमूर्ति’ भी कहा है—‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ (९। ४)। तात्पर्य है कि साकार और निराकार एक ही हैं, दो नहीं।

‘अमृतस्याव्ययस्य च’—अविनाशी अमृतका अधिष्ठान मैं ही हूँ और मेरा ही अधिष्ठान अविनाशी अमृत है। तात्पर्य है कि अविनाशी अमृत और मैं—ये दो तत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत

एक ही हैं। इसी अविनाशी अमृतकी प्राप्तिको भगवान्ने ‘अमृतमश्नुते’ (१३। १२; १४। २०) पदसे कहा है।

‘शाश्वतस्य च धर्मस्य’—सनातन धर्मका आधार मैं हूँ और मेरा आधार सनातन धर्म है। तात्पर्य है कि सनातन धर्म और मैं—ये दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं। सनातन धर्म मेरा ही स्वरूप है*। गीतामें अर्जुनने भगवान्को शाश्वतधर्मका गोप्ता (रक्षक) बताया है (ग्यारहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। भगवान् भी अवतार लेकर सनातन धर्मकी रक्षा किया करते हैं (चौथे अध्यायका आठवाँ श्लोक)।

‘सुखस्यैकान्तिकस्य च’—ऐकान्तिक सुखका आधार मैं हूँ और मेरा आधार ऐकान्तिक सुख है अर्थात् मेरा ही स्वरूप ऐकान्तिक सुख है। भगवान्ने इसी ऐकान्तिक सुखको ‘अक्षय सुख’ (५। २१), ‘आत्यन्तिक सुख’ (६। २१) और ‘अत्यन्त सुख’ (६। २८) नामसे कहा है।

इस श्लोकमें ‘ब्रह्मणः’, ‘अमृतस्य’ आदि पदोंमें ‘राहोः शिरः’ की तरह अभिन्नतामें षष्ठी विभक्तिका प्रयोग किया गया है। तात्पर्य है कि ‘राहुका सिर’—ऐसा जो प्रयोग होता है, उसमें राहु अलग है और सिर अलग है—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत राहुका नाम ही सिर है और सिरका नाम ही राहु है। ऐसे ही यहाँ ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदि ही भगवान् कृष्ण हैं और भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदि हैं।

* हिन्दू (सनातन), बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम—ये चार धर्म वर्तमान समयमें संसारमें मुख्य माने जाते हैं। इन चारोंमेंसे एक-एक धर्मको माननेवालोंकी संख्या करोड़ोंकी है। इनमें बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम-धर्मको चलानेवाले क्रमशः बुद्ध, ईसा और मोहम्मद माने जाते हैं। ये तीनों ही धर्म अर्वाचीन हैं। परन्तु हिन्दूधर्म किसी मनुष्यके द्वारा चलाया हुआ नहीं है अर्थात् यह किसी मानवीय बुद्धिकी उपज नहीं है। यह तो विभिन्न ऋषियोंद्वारा किया गया अन्वेषण है, खोज है। खोज उसीकी होती है, जो पहलेसे ही मौजूद हो। हिन्दूधर्म अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है। जैसे भगवान् शाश्वत (सनातन) हैं, ऐसे ही हिन्दूधर्म भी शाश्वत है। इसीलिये भगवान्ने यहाँ (गीता १४। २७ में) सनातन हिन्दूधर्मको अपना स्वरूप बताया है। जब-जब हिन्दूधर्मका ह्रास होता है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर इसकी संस्थापना करते हैं (गीता—चौथे अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि भगवान् भी इसकी संस्थापना, रक्षा करनेके लिये ही अवतार लेते हैं, इसको बनानेके लिये, उत्पन्न करनेके लिये नहीं। वास्तवमें अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर भी इसी सनातन धर्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये उन धर्मोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनको भी हिन्दूधर्मकी ही देन मानना चाहिये। अतः उन धर्मोंमें बताये गये अनुष्ठानोंका भी निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पालन किया जाय, तो कल्याण होनेमें सन्देह नहीं मानना चाहिये। प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार हिन्दूधर्ममें किया गया है, उतना दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलता। हिन्दूधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं।

ब्रह्म कहो, चाहे कृष्ण कहो, और कृष्ण कहो, चाहे ब्रह्म कहो; अविनाशी अमृत कहो, चाहे कृष्ण कहो, और कृष्ण कहो चाहे अविनाशी अमृत कहो; शाश्वत धर्म कहो, चाहे कृष्ण कहो और कृष्ण कहो चाहे शाश्वत धर्म कहो;

ऐकान्तिक सुख कहो चाहे कृष्ण कहो; और कृष्ण कहो चाहे ऐकान्तिक सुख कहो; एक ही बात है। इसमें कोई आधार-आधेय भाव नहीं है, एक ही तत्त्व है। इसलिये भगवान्की उपासना करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—यह बात ठीक ही है।

परिशिष्ट भाव—‘ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ’—यह निर्गुण-निराकारकी तथा ज्ञानयोगकी बात है, ‘शाश्वतधर्मका आश्रय मैं हूँ’—यह सगुण-साकारकी तथा कर्मयोगकी बात है और ‘ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ’—यह सगुण-निराकारकी तथा ध्यानयोगकी बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। तीनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है, जिसको ‘समग्र’ कहते हैं।

जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्की एक विभूति है, ऐश्वर्य है। इसलिये यहाँ भगवान्ने कहा है—‘**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**’। पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण ‘ब्रह्म’ है—

यन्मुखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः । गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम् ॥

(पाताल० ७७। ६०)

‘(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।’

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसम्वादमें ‘गुणत्रयविभागयोग’ नामक चौदहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १४ ॥

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। इन तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर, इनका सम्बन्ध छूटनेपर परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। इसलिये इस अध्यायका नाम ‘गुणत्रयविभागयोग’ रखा गया है।

चौदहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें ‘अथ चतुर्दशोऽध्यायः’ के तीन, ‘श्रीभगवानुवाच’ आदि पदोंके छः, श्लोकोंके तीन सौ बाईस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ चौवालीस है।

(२) इस अध्यायमें ‘अथ चतुर्दशोऽध्यायः’ के आठ, ‘श्रीभगवानुवाच’ आदि पदोंके बीस, श्लोकोंके आठ सौ चौंसठ और पुष्पिकाके इक्यावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ तैंतालीस है। इस

अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो ‘श्रीभगवानुवाच’ और एक ‘अर्जुन उवाच’।

चौदहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सत्ताईस श्लोकोंमेंसे—पाँचवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘नगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘न-विपुला’; छठे और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘रगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘र-विपुला’; पन्द्रहवें और सत्रहवें श्लोकके तृतीय चरणमें ‘भगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘भ-विपुला’; उन्नीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘मगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘म-विपुला’; और नवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘भगण’ तथा तीसरे चरणमें ‘नगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘संकीर्ण-विपुला’ संज्ञावाले छन्द हैं। शेष बीस श्लोक ठीक ‘पथ्यावक्त्र’ अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।